Hindi kavida Ratna-mala.

by.

sham sundar.

Indian press, parag.

1914

हिंदी-कोविद-रत्नमाला

अर्थात्
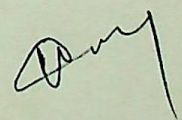
हिंदी के चालीस विद्वानों और सहायकों के सचित्र जीवनचरितों का संग्रह ।

पहला भाग ।

श्यामसुन्दर दास बी० ए० संकलित ।

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, प्रयाग

१९१४

मूल्य १।।)

समर्पण

प्यारे मित्र !

इधर यह ग्रंथ समाप्त हुआ, उधर तुम्हारा बिछोह हुआ; इस अवस्था में हम दोनों ने मिल कर जो बहुत वर्षों तक कई उद्योगों में एक दूसरे का साथ दिया उसका स्मरण चिरस्थायी करने का इससे बढ़ कर और क्या उपाय है कि यह ग्रंथ मैं तुम्हारे अर्पण करूँ। एक मित्र की यह स्नेहमयी भेंट है। इसे सादर स्वीकार करना और इस नाते दूर होने पर मैत्री के पाश को ढीला न होने देना। तुम्हारा हमारा स्नेह सदा एक सा बना रहेगा, यह तो निश्चय ही है पर आशा है कि यह भेंट उसे और भी दृढ़ करने में सहायक होगी।

तुम्हारा स्नेही,

श्यामसुन्दर दास।
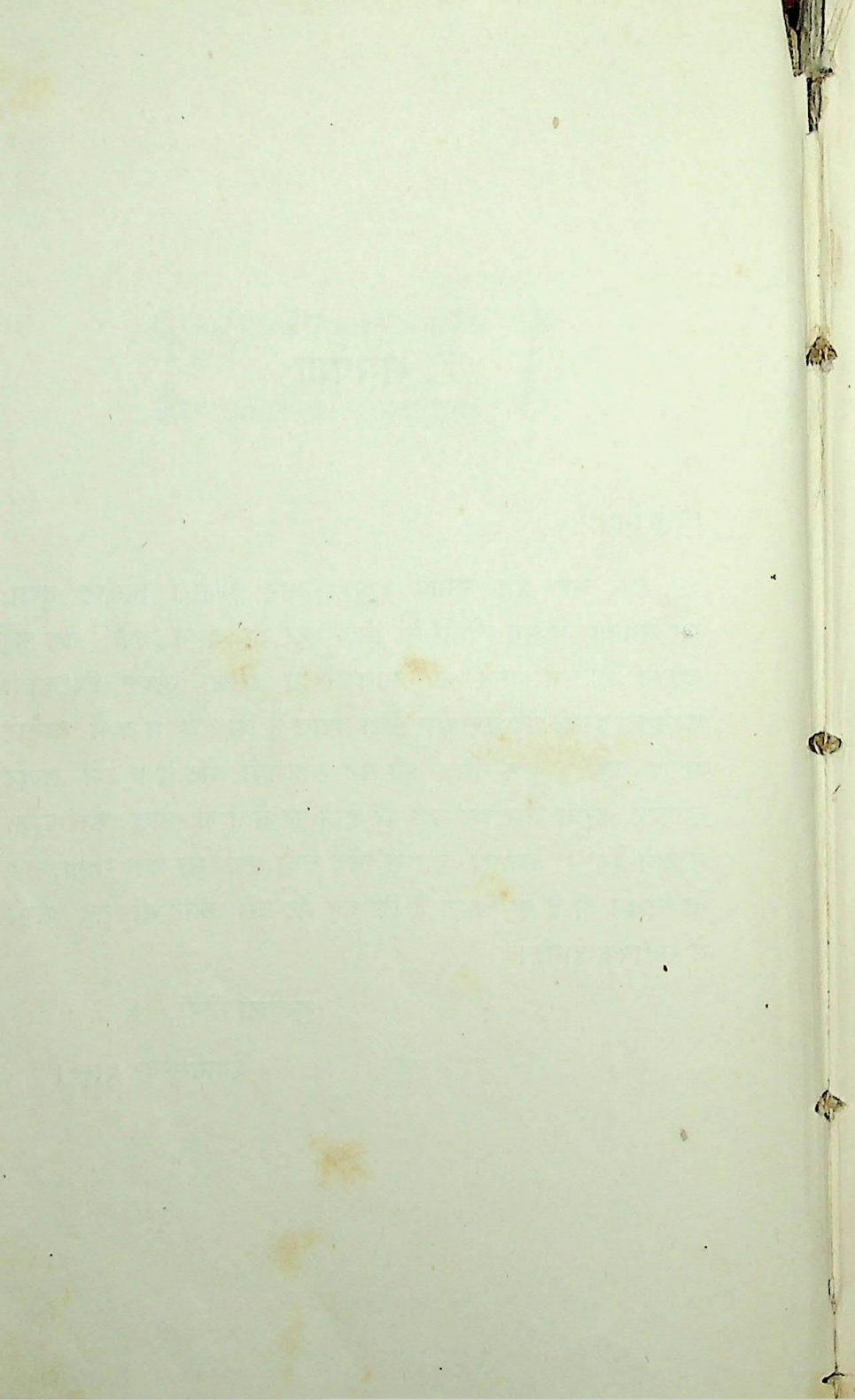
निवेदन

हिंदी भाषा के प्रेमियों को इससे बढ़कर संतोष और आनंद की बात और क्या हो सकती है कि इसके पढ़नेवालों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जाती है और इसमें नित्य नए और सुंदर ग्रंथ प्रकाशित होते जाते हैं। जिस गद्य में आज हम लिखते पढ़ते हैं उसकी उत्पत्ति लल्लूजीलाल ने १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में कलकत्ते में की। लल्लूजीलाल आगरे के रहनेवाले थे और पीछे से फ़ोर्टविलियम कालेज में नौकर हो गए थे। यहाँ पर उन्होंने अँगरेज़ी अफ़सरों के पढ़ने के लिये उपयुक्त ग्रंथों का अभाव देख कर पहिले पहिल प्रेमसागर लिखा, फिर उनकी देखादेखी और लोगों ने भी ग्रंथ लिखे, पर वास्तव में आधुनिक गद्य ग्रंथ लिखने की चाल आगे चल कर १९ वीं शताब्दी के मध्य में निकली। इस गद्य की उत्पत्ति से यह तात्पर्य नहीं है कि पहिले गद्य था ही नहीं, किसी न किसी रूप में था, नहीं तो क्या लोग पद्य में बात चीत करते थे? गद्य बोलचाल में अवश्य था पर भिन्न भिन्न प्रांतों और स्थानों में भिन्न भिन्न रूप में था जिन्हें हम आज कल "बोलियों" का नाम देते हैं, जैसे आगरे के निकट ब्रज-भाषा बोली जाती है। गद्य की उत्पत्ति करने से तात्पर्य यह है कि ग्रंथ लिखने की एक संगठित रीति की नींव डालना। कुछ लल्लूजीलाल ने यह सोच कर तो प्रेमसागर लिखा ही न था कि जिस भाषा की वे नींव डाल

रहे हैं वही आगे चल कर १०० वर्ष के भीतर ही एक साधारण भाषा हो जायगी और उसके सैकड़ों लेखक होंगे और उसमें हज़ारों ग्रंथ लिखे जायँगे। ऐसे बड़े बड़े काम योंही साधारणतः हो जाते हैं। कभी कभी तो जो काम खिलवाड़ में किए जाते हैं वे समय पाकर देश में भारी से भारी उलट फेर करने में समर्थ होते हैं। यही अवस्था लल्लूजीलाल के उद्योग की भी हुई। एक साधारण ग्रंथ लिख कर उन्होंने वह काम किया कि जिसका परिणाम बड़ा प्रभावोत्पादक हुआ और जिसके कारण आज दिन वे हिंदी-गद्य के जन्मदाता की उपाधि से अलंकृत हैं। इनके पीछे बहुत वर्षों तक हिंदी-साहित्य का मैदान ख़ाली रहा, कोई भी ऐसा प्रदीप प्रज्वलित न हुआ जो अपनी प्रकाश-किरणों से अविद्या के अंधकार को दूर कर उस मैदान को सुशोभित करता। इसके कोई तीस चालीस वर्ष पीछे राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेंदु हरिश्चंद्ररूपी चमकते हुए नक्षत्रों का साहित्य-मंडल में उदय हुआ। यद्यपि इनमें सब के पहिले राजा शिवप्रसाद का उदय हुआ, पर ध्रुव स्थान पर स्थिर होने का गौरव भारतेंदु हरिश्चंद्रजी को प्राप्त हुआ। इन्होंने हिंदी-भाषा में उस संजीवनी शक्ति का संचार किया कि जिससे वह दिनों दिन बढ़ती और उन्नति करती गई और आज दिन उसका नभ-मंडल अनेक नक्षत्रों से परिपूर्ण हो रहा है।

इनके समकालीन अनेक विद्वानों ने अपने अपने सामर्थ्यानुसार भाषा-भंडार की पूर्त्ति का उद्योग किया और वे उसकी उन्नति में सहायक हुए। ऐसे समय में जब कि हिंदी की चर्चा दिनों दिन बढ़ती जा रही है और उसके लिखने और पढ़नेवालों की संख्या वृद्धि पर है तथा उसे लोग राष्ट्र-भाषा के पद पर सुशोभित करने

के लिये उद्योगी हो रहे हैं, यह आवश्यक जान पड़ता है कि उसके कुछ मुख्य मुख्य सेवियों के चित्र और चरित हिंदी-प्रेमियों के अर्पण किये जायँ। आज एक वर्ष के लगभग हुआ कि यह भाव मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ। मैंने इंडियन प्रेस के स्वामी से प्रस्ताव किया कि वे एक ऐसा ग्रंथ छपाने का उद्योग करें। उन्होंने कृपा कर इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, पर साथ ही शर्त यह लगा दी कि ग्रंथ का संपादन मैं ही करूँ। मैंने भी इस सिद्धांत के अनुसार कि "जो बोले सो घी को जाय" इस कार्य्य का भार अपने ऊपर लिया। यह स्थिर हो जाने पर एक इस ग्रंथ के पहिले भाग में किन किन महानुभावों के चरित्र और चित्र रहेंगे मैं इसकी सामग्री एकत्रित करने में तत्पर हुआ। इस कार्य्य में अनेक महानुभावों ने तो पत्र पाते ही आवश्यक सहायता से मुझे अनुगृहीत किया पर अधिकांश लोगों को कई बेर पत्र लिख कर तकाज़ा करना पड़ा। इस स्थान पर उन कठिनाइयों के वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है कि जो मुझे अधिकांश चित्रों और चरित्रों के संग्रह करने में उठानी पड़ीं। पाठक, इसी से इसका बहुत कुछ अनुमान कर सकते हैं कि अंतिम जीवन-चरित मुझे १७ अक्टूबर १९०८ को और अंतिम फ़ोटो २८ दिसंबर १९०८ को प्राप्त हुआ। अस्तु, यद्यपि इस छोटी सी पुस्तक के लिखने में इतना समय लग गया पर मुझे संतोष और आनंद है कि यह अंत में तैयार हो गई और अब शीघ्र ही हिंदी-प्रेमियों के हाथों में पहुँच कर यदि और कुछ नहीं तो कम से कम लेखकों और पाठकों में परस्पर सहानुभूति और प्रीति उत्पन्न करने में सहायक होगी। यदि इससे केवल इसी उद्देश्य की सिद्धि हो गई तो मैं अपने उद्योग को सफल समझूँगा।

इस रत्नमाला में चालीस जीवन-चरित्रों का संग्रह है जिनमें

२०* तो ऐसे महानुभावों के हैं जो परलोकगामी हो गए हैं और २०* अभी वर्तमान हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि और इस योग्य हैं ही नहीं जो इसमें स्थान पाते। इस रत्नमाला का यह पहिला भाग है और दूसरे जब केवल चालीस जीवनचरित्रों के संग्रह करने में इतना समय लग गया तो यदि इनकी संख्या बढ़ा दी जाती तो न जाने कितना समय लगता। यदि इस ग्रंथ का आदर हुआ और प्रकाशक का व्ययमात्र भी निकल आया तो इस ग्रंथ के दूसरे भाग के प्रकाशित करने का उद्योग किया जायगा। यदि किसी ऐसे महाशय का चित्र और चरित इस भाग में छूट गया हो जिसका रखना आवश्यक और उचित था तो वे क्षमा करेंगे और उसकी सूचना देकर मुझे अनुगृहीत करेंगे जिसमें मैं दूसरे भाग में उस त्रुटि को दूर कर सकूँ। प्रत्येक जीवनचरित को मैंने उसके नायक की जन्म तिथि के क्रम से अंकित किया है जिसमें किसी को इस बात के कहने और सोचने का अवसर न प्राप्त हो कि मैंने उनकी योग्यता के अनुसार इस ग्रंथ में उन्हें स्थान नहीं दिया। मेरी दृष्टि में तो सब समान सम्मान के पात्र हैं और मैं किसी को आगे बढ़ाना अथवा पीछे हटाना अपनी सामर्थ्य के बाहर समझता हूँ। इसलिये मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ के पाठकगण इस ग्रंथ की त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर इसको सादर स्वीकार करने की कृपा करेंगे।

इस ग्रंथ के लिखने में मुझे अनेक मित्रों से सहायता मिली जिन सबका मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। पंडित श्रीधर पाठक का मैं विशेष अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने एक बेर इस ग्रंथ को आदि से अंत तक पढ़ कर उचित परामर्शों से मुझे बाधित किया है।

---

* द्वितीय संस्करण के समय जीवितों की संख्या १४ और मृतों की २६ हो गई।

आशा है कि जिस उद्देश्य से यह संग्रह किया गया है उसमें सफलता प्राप्त हो और यह ग्रंथ हिंदी के प्रेमियों में स्नेह बंधन के दृढ़ करने में समर्थ हो।

१ जनवरी १९०९।

चार वर्ष के अनंतर इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण छापने की आवश्यकता हुई। इस संस्करण में बहुत कम उलट फेर किया गया है। केवल चरितनायकों की जीवन-घटना जहाँ कहीं अधूरी जान पड़ी पूरी कर दी गई हैं।

श्यामसुन्दर दास।
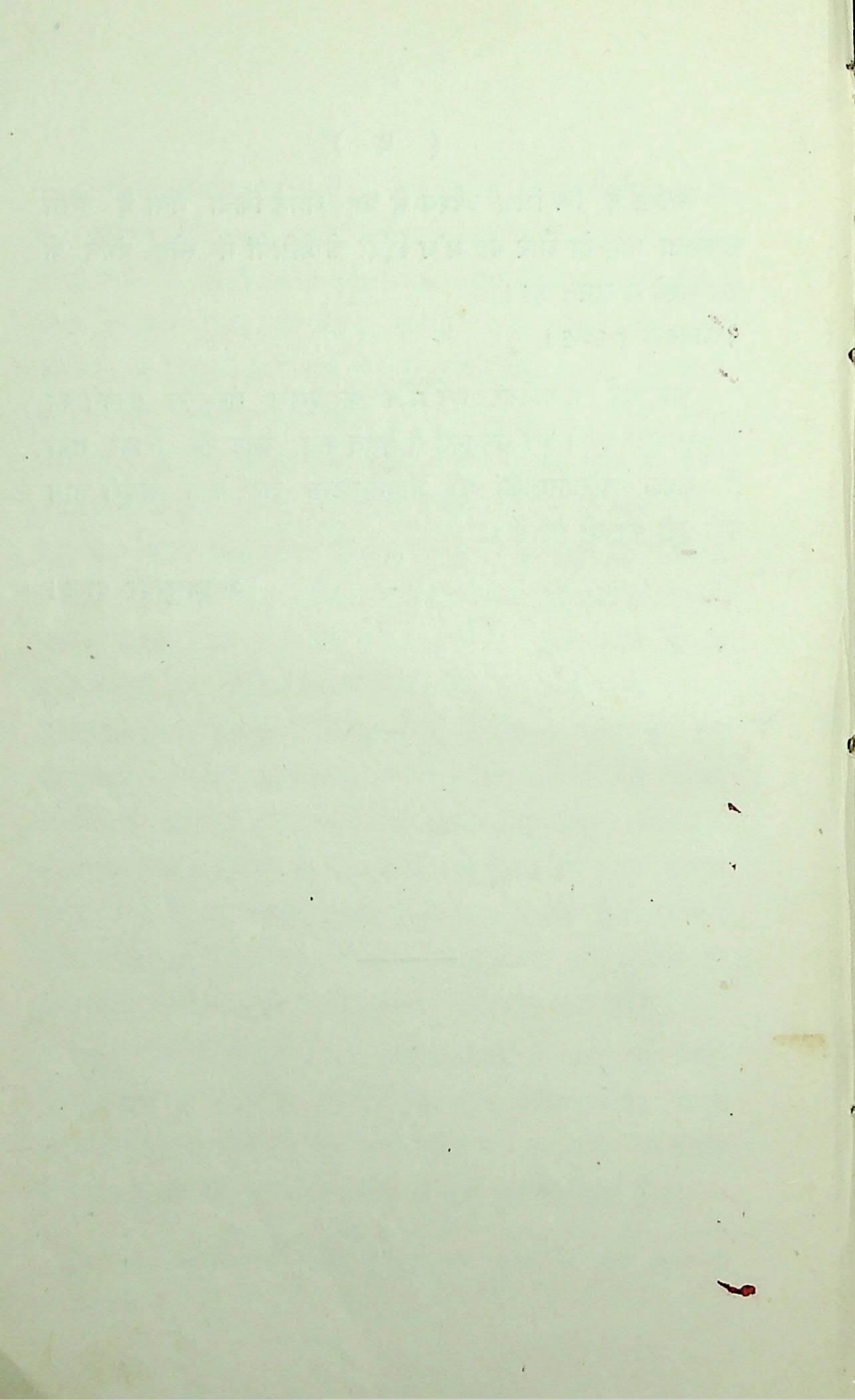
चरितनायकों की नामावली।

[जिन नामों के आगे * यह चिह्न है वे अब जीवित नहीं हैं।]

* (१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद।
* (२) महर्षि दयानंद सरस्वती।
* (३) राजा लक्ष्मणसिंह।
* (४) पंडित गौरीदत्त।
* (५) मिस्टर फ्रेडरिक पिनकाट।
* (६) बाबू नवीनचंद्र राय।
(७) डाक्टर ए० एफ़० रुडाल्फ हर्नली, सी० आई० ई०।
(८) पंडित बालकृष्ण भट्ट।
* (९) बाबू तोताराम।
* (१०) राजा रामपालसिंह।
* (११) बाबू गदाधरसिंह।
* (१२) राय बहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०।
* (१३) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र।
* (१४) पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या।
* (१५) लाला श्रीनिवासदास।
* (१६) बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री।
(१७) पंडित भीमसेन शर्म्मा।
* (१८) पंडित केशवराम भट्ट।
(१९) पंडित बदरीनारायण चौधरी।
* (२०) पंडित प्रतापनारायण मिश्र।
(२१) डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सन, के० सी० आई० ई०।
* (२२) ठाकुर जगमोहनसिंह।

(२३) लाला सीताराम, बी० ए० ।
(२४) पंडित राधाचरण गोस्वामी ।
❀ (२५) साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास ।
❀ (२६) पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ।
❀ (२७) बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ।
(२८) पंडित श्रीधर पाठक ।
❀ (२९) महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ।
❀ (३०) बाबू देवकीनंदन खत्री ।
(३१) पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ।
(३२) आनरेब्ल पंडित मदनमोहन मालवीय, बी० ए०, एल० एल० बी० ।
(३३) पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ।
❀ (३४) लाला बालमुकुंद गुप्त ।
(३५) पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ।
❀ (३६) बाबू राधाकृष्णदास ।
(३७) पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ।
(३८) ठाकुर गदाधरसिंह ।
❀ (३९) पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र ।
(४०) पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम० ए० ।

नोट—मेरी बहुत इच्छा थी कि इस रत्नमाला के पहिले भाग में हिंदी के अन्य दो एक प्रसिद्ध विद्वानों और सेवियों के चित्र और चरित दिए जाते; परंतु मुझे दुःख है कि बहुत कुछ उद्योग करने पर भी यह इच्छा पूरी न हो सकी ।

२७-१-०९ श्यामसुन्दर दास

हिंदी-कोविद-रत्नमाला।

पहला भाग।

(१) राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद।

प्रसिद्ध रणथंभौरगढ़ में धंधार नाम का एक प्रमार राजा राज्य करता था। वह जैन-धर्मावलंबी था। उसके पुत्र का नाम गोखरू था। हमारे राजा साहिब इसी गोखरू गोत्र में थे। बादशाही समय में इनके पूर्वज दिल्ली में जौहरी का व्यवसाय करते थे। वे नादिर-शाही में दिल्ली से भाग कर मुरशिदाबाद चले गए। नव्वाब क़ासिमअलीख़ाँ के अत्याचार से राजा शिवप्रसाद के पितामह राय डालचंद काशी में आ बसे।

आपका जन्म मिती माघ सुदी २ संवत् १८८० में हुआ था। पिता का नाम बाबू गोपीचंद था। इनके घर की सब स्त्रियाँ पढ़ी लिखी थीं, इसलिए पाँच ही वर्ष के शैशव से राजा शिवप्रसाद की शिक्षा का प्रबंध हो गया। पहिले तो इन्होंने घर पर ही कुछ हिन्दी और उर्दू पढ़ी। फिर बीबीहटिया के स्कूल में फ़ारसी का अध्ययन करने लगे। इसके पीछे संस्कृत का भी अभ्यास किया। जब कि राजा साहिब की कोई १३ या १४ वर्ष की अवस्था थी तब कलकत्ते के फ़ोर्टविलियम कालेज के प्रोफ़ेसर बाबू तारणीचरण मित्र पेंशनर का काशीनिवास के अर्थ बनारस में आना हुआ। उनके पुत्रों से और किशोर राजा शिवप्रसाद से घनिष्ठ मित्रता हो गई। और उन्हींसे

इन्होंने अँगरेज़ी और बँगला भाषाएँ सीखीं और १६ वर्ष की अवस्था में संस्कृत, हिन्दी, अ़रबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी और बँगला में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

इस प्रकार अपनी शिक्षा समाप्त कर चुकने पर अपने मामा की सहायता से बाबू शिवप्रसाद भरतपुर दरबार में नौकर हुए। वहाँ जाते ही आप ने पहला कार्य यह किया कि राज्य के दीवान को, जो कि राजा को दबाए और रियासत पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए था, अँगरेज़ सरकार की अनुमति से ८० कायस्थों सहित जेल भिजवाया और महाराज को स्वतंत्र कर दिया। इस कार्य से प्रसन्न हो कर महाराज ने इन्हें अपना वकील नियुक्त किया। इस अवस्था में इन्होंने गवर्नमेंट से लड़ाई के तक़ाज़े के १८ लाख रुपए भरतपुर को माफ़ करवाए।

कुछ काल के पीछे ये भरतपुर की नौकरी छोड़ कर घर चले आए और फिर भरतपुर न गये। सन् १८४५ ई० में राजा साहिब ने अँगरेज़ सरकार की सेवा स्वीकार की। उस समय सिक्खयुद्ध का आरंभ था। ये अँगरेज़ी लश्कर के साथ सरहद पर गए और गवर्नर जनरल की आज्ञानुसार वहाँ इन्होंने एक अत्यन्त साहस, वीरता और स्वामिभक्ति का यह काम किया कि अकेले शत्रुसेना में जा कर वहाँ की तोपें गिन आए तथा और भी भेद ले आए। अथ च, आप ही अकेले महाराजा दिलीपसिंह को बंबई तक पहुँचा कर जहाज़ पर सवार करा आए।

सिक्खों से संधि हो चुकने पर जब गवर्नर जनरल शिमले को गए तो इन्हें भी साथ लेते गए और एक पद विशेष पर नियुक्त किया। वहाँ इन्होंने बड़े परिश्रम से अपना काम किया जिससे ये दिन दिन अँगरेज़-कर्मचारियों के कृपापात्र होते गए। उसी कृपा के

कारण राजा शिवप्रसाद ने वह सेवा और भक्ति की कि जो उनके जाननेवाले सब पुरुषों पर विदित है। हज़रत सब के बुरे बने, पर अँगरेज़ों का पक्ष निवाहा। इनका मंतव्य था "जिसका खाना उसका गाना।"

शिमले से आ कर राजा साहिब ने कुछ दिन काशी में कमिश्नर साहिब के मीरमुंशी का काम किया, परंतु विद्या-विषयक रुचि के अनुसार सरकार ने उन्हें स्कूलों का इंसपेक्टर नियत कर दिया। अपनी इंसपेक्टरी में राजा साहिब ने मातृभाषा हिंदी का जो उपकार किया उसके लिए हिंदी बोलनेवालों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। उस समय शिक्षा-विभाग में मुसल्मानों का प्राबल्य था और वे चाहते थे कि हिंदी का पठन पाठन ही उठा दिया जाय, केवल उर्दू फ़ारसी रहे। अँगरेज़ भी इस विषय में सहमत थे। क्योंकि हिंदी में तब तक कोई ऐसी पुस्तकें न थीं जो स्कूलों में पढ़ाई जा सकें। परंतु राजा साहिब ने हिंदी का पक्ष प्रतिपालन किया और स्वयं उसमें अनेक ग्रन्थ रच कर उक्त अभाव को दूर किया और भाषा की शिक्षा को स्थिर रक्खा। उन्होंने साहित्य, व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि विषयों पर सब मिला कर कोई ३५ पुस्तकें लिखीं। आप बाबू हरिश्चंद्र के विद्या-गुरु थे।

सन् १८७२ ई० में उन्हें सी० एस० आई की उपाधि मिली और सन् १८८७ में वंशपरम्परा के लिए "राजा" की पदवी प्राप्त हुई। आपका देहांत ता० २३ मई सन् १८९५ को काशी में हुआ।

---

(२) महर्षि दयानंद सरस्वती।

स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात देश के मोरवी नगर में हुआ था। ये औदीच्य ब्राह्मण थे और इनका असली नाम मूलशंकर था। इनके पिता अंबाशंकर एक प्रतिष्ठित ज़मीदार थे।

स्वामीजी को सामयिक प्रथा के अनुसार बाल्यावस्था में रुद्री और शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन आरंभ कराया गया। एक समय जब इनकी अवस्था केवल १४ वर्ष की थी इनके पिता ने इन्हें शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। रात्रि को सब लोग शिवालय में जागरण करने गये। और सब तो सो गए परन्तु स्वामीजी को नींद न आई। दैवयोग से उसी समय एक चूहा शिवजी की पिंडी पर चढ़ गया और चढ़े हुए अक्षत को खाने लगा। यह देख कर स्वामीजी के मन से मूर्तिपूजा से श्रद्धा उठ गई और वे यह कह कर घर को चले आए कि जब तक शिवजी के प्रत्यक्ष दर्शन न कर लूँगा तब तक कोई व्रत या नियम न करूँगा।

जिस समय स्वामीजी की अवस्था २० वर्ष की हुई इनके चाचा का देहांत हो गया। वे इन्हें बहुत चाहते थे इसलिए उनकी मृत्यु से इनके चित्त पर कड़ी चोट लगी और वैराग्य उत्पन्न हो आया। इस समय इनको जो अच्छा पंडित या जानकार पुरुष मिलता उसी से ये यह प्रश्न करते कि मनुष्य अमर किस तरह हो सकता है और उत्तर मिलता कि योगाभ्यास से। यह सुन कर स्वामीजी को योगाभ्यास की शिक्षा प्राप्त करने की उत्कट इच्छा हुई।
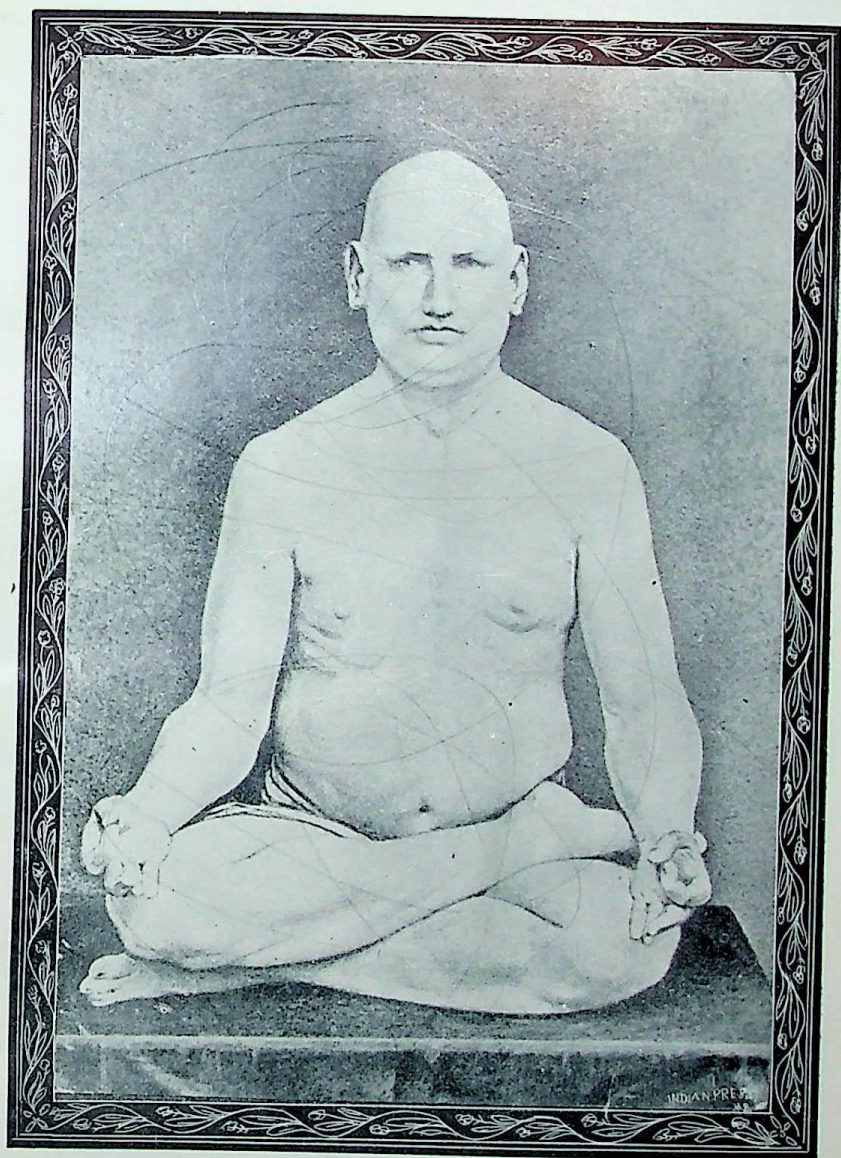
महर्षि दयानंद सरस्वती।

स्वामी जी ने योगाभ्यास के ज्ञाता की खोज में पर्य्यटन करना निश्चय किया और इसके लिये पिता की आज्ञा चाही। पर वे क्यों आज्ञा देने लगे थे? वे तो इनके विवाह की युक्ति में लगे थे। अस्तु, विना आज्ञा ही स्वामी जी घर से निकल पड़े और साधुओं के सत्संग में निरत हुए, परंतु इन्हें यथार्थ में कोई साधु न मिला, जो मिले उनसे इनका संतोष न हुआ, अतः इनकी साधुओं से भी श्रद्धा हट गई। इसी बीच में इनके पिताजी ने इन्हें आन पकड़ा और चार सिपाहियों के पहरे में घर ले चले, परंतु रास्ते में रात को उठ कर वे फिर भाग खड़े हुए और उत्तर में अलकनंदा के किनारे विश्राम लिया। इस ओर इन्हें कई अच्छे अच्छे साधुओं के दर्शन हुए और उन लोगों ने इन्हें कुछ योग क्रियाएँ भी बतलाईं। अलकनंदा के तट पर पहुँच कर पहिले तो इन्होंने चाहा कि बरफ़ में गल कर प्राण देदेवें और संसार के झंझटों से पार हो जावें। पर फिर सोचा कि आत्महत्या तो महापाप है, ऐसा क्यों करें? विद्याध्ययन करके ही इस जीवन को सफल क्यों न करें? यह निश्चय करके स्वामी जी मथुरा आए। यहाँ स्वामी विरजानंद नामक एक विलक्षण विद्वान् महापुरुष रहते थे। वे आँखों से अंधे थे। अवस्था ८१ वर्ष की थी। स्वामी जी उनसे विद्याध्ययन करने लगे। इन्होंने उनकी ख़ूब मन लगा कर सेवा शुश्रूषा की और उन्होंने इन्हें प्रसन्न-चित्त से शिक्षा दी। जब ये विद्या पढ़ चुके तो थोड़ी सी लौंगें लेकर गुरु जी से आज्ञा माँगने गये। उन्होंने इनको आशीर्वाद देकर प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दी और आदेश किया कि तुम देश का उद्धार करो, लोगों को असन्मार्ग से हटा कर वेद-मत पर लाओ। 'अनाचारों' का नाश करो और वेद-विहित सदाचारों का प्रचार करके मानवसमाज का उपकार करो।

गुरु जी की इस आज्ञा को स्वामीजी ने किस प्रकार से पालन किया, यह सब पर विदित है। इसी उद्देश्य से सन् १८७५ ई० में इन्होंने आर्य-समाज की नींव डाली और उससे भारतवर्ष का कितना उपकार हुआ है यह किसी से छिपा नहीं है। परंतु स्वामीजी से मातृभाषा हिंदी का कितना उपकार हुआ यह बहुत थोड़े लोग जानते अथवा विचार करते होंगे। यद्यपि स्वामी जी अपने समय तक के रचे हुए भाषा-ग्रंथों को कपोलकल्पित कह कर उनमें श्रद्धा नहीं करते थे तथापि उन्होंने जो कुछ लिखा सब हिंदी में लिखा और ऐसी सरल हिंदी में कि जिसे सब लोग सहज ही समझ सकते हैं। इन्होंने हिंदी में वेदों की टीका की, उपनिषदों पर टिप्पणी लिखीं, और अपने सिद्धान्तों का संग्रहसूचक "सत्यार्थप्रकाश" भी इसी भाषा में प्रकाशित किया। आर्यसमाज के उपनियमों में हिंदी भाषा का पढ़ना सब आर्यसमाजों के लिये आवश्यक किया। स्वामी जी के बनाए ग्रंथों में अत्यंत श्रद्धा रखनेवाले और हिंदी भाषा को न जाननेवाले दूसरी भाषाओं के विद्वानों ने स्वामी जी से कई बार प्रार्थना की कि सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रंथों का उर्दू और अँगरेज़ी आदि भाषाओँ में अनुवाद हो जावे तो संसार का बड़ा उपकार हो। स्वामी जी ने उन लोगों को सदा यही उत्तर दिया कि मैं अपने सामने अन्य भाषा में अपने ग्रंथों का अनुवाद न होने दूँगा। संसार का इससे बड़ा उपकार होगा कि सब हिंदी जाननेवाले बनजावें। जो लोग मेरी पुस्तकों में श्रद्धा करेंगे वे अवश्य हिंदी पढ़ना सीखेंगे। आज कल इनके सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के प्रभाव से पंजाब में हिंदी का वह प्रभाव है कि जिसकी कदापि आशा न थी। इसमें संदेह नहीं कि अब भी पंजाब में उर्दू लिखने पढ़ने वालों की संख्या अधिक होगी परंतु अक्षर केवल उर्दू होते हैं, भाषा में हिंदी संस्कृत के शब्द भरे रहते हैं। उर्दू के मुसल-

मान विद्वान् कहते हैं कि आर्यसमाजियों ने उर्दू का सत्यानाश कर दिया। इसके सिवाय देश भर में जहाँ कहीं आर्यसमाज का नाम व निशान मौजूद है वहाँ हिंदी भाषा की चर्चा भी अवश्य है।

स्वामी जी का देहांत सन् १८८३ ई० में अजमेर में हुआ। इनसे देश का जो उपकार हुआ है वह निस्संदेह अमूल्य है। वेद मत का प्रचार, अपनी पूर्वकीर्ति में निष्ठा और भविष्यत् उन्नति में उद्योग यह उन्होंने भारतवासियों को सिखाया है। १९ शताब्दी में जो महात्मा भारतवर्ष में हुए उन सबमें स्वामी जी का आसन श्रेष्ठ है।

---

(३) राजा लक्ष्मणसिंह ।

राजा लक्ष्मणसिंह यदुवंशी क्षत्रिय थे। जन्मभूमि आगरा, जन्म तिथि ९ अक्तूबर सन् १८२६ ई०।

वैसे तो घरवालों ने इनकी शिक्षा पर उसी समय से ध्यान दिया जब से कि ये तोतली जिह्वा से बोलने लगे थे परंतु पाँच वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें विधिवत् विद्यारम्भ कराया गया। जब इन्हें नागरी अक्षरों के लिखने का पूरा अभ्यास हो गया तो संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा दी जाने लगी। ये तीव्रबुद्धि तो थे ही, बारह वर्ष की अवस्था तक इन्होंने फ़ारसी और संस्कृत दोनों भाषाओं में वय-अनुसार अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। बारह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हो जाने पर अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा पाने के लिये इन्हें आगरा कालेज में बैठाया गया। उस समय अब की तरह बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षाएं न होती थीं; केवल सीनियर, जूनियर परीक्षाएं होती थीं। अस्तु, हमारे चरितनायक ने सीनियर परीक्षा पास की। कालेज में अँगरेज़ी के साथ इनकी दूसरी भाषा संस्कृत थी और घर पर ये हिंदी, अरबी और फ़ारसी का अभ्यास किया करते थे। कालेज छोड़ने पर इन्होंने बँगला भी सीख ली। इस तरह से २४ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कई एक भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

राजा लक्ष्मणसिंह कालेज से निकल कर पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे लाट के दफ़्तर में सौ रुपए मासिक वेतन पर अनुवाद करने के काम पर

नौकर हुए। तीन वर्ष के बाद इनका वेतन १५०) मासिक हुआ और ये सदरबोर्ड के दफ़्र में नियत हुए। इसके दो वर्ष पीछे सन् १८५५ ई० में इन्हें इटावे की तहसीलदारी मिली। उन दिनों इटावे में ह्यूम साहब कलेक्टर थे। वे इनके गुणों पर मोहित होकर इनसे अत्यंत प्रसन्न थे। अस्तु, उनकी सहायता से राजा साहिब ने इटावे में ह्यूम हाई स्कूल स्थापित किया जो कि अब तक विद्यमान है और जिससे प्रति वर्ष अच्छे अच्छे योग्य विद्यार्थी पास होते हैं। इनकी कार्य-प्रणाली से अत्यंत प्रसन्न होकर ह्यूम साहिब ने गवर्नमेंट को इनकी बड़ी तारीफ़ लिखी जिससे गवर्नमेंट ने इन्हें डिप्टी कलेक्टर बना दिया और बाँदे को बदली कर दी। यह सन् १८५६-५७ की बात है।

राजा साहिब बाँदे से छुट्टी लेकर अपने घर आगरे को जा रहे थे कि उसी समय सिपाहियों का बलवा हो गया। जब आप इटावे के पास पहुँचे तो सुना कि यहाँ पर भी बड़ा उपद्रव मचा हुआ है। बस ये फ़ौरन् ह्यूम साहिब के पास पहुँचे और उनके कहने के अनुसार बहुत से अँगरेज़बालकों और मेमों को सकुशल आगरे के क़िले में पहुँचा दिया। घर पर पहुँच कर इन्होंने राजपूतों का एक झुंड बटोरा और उन्हें लेकर ये ह्यूम साहिब की रक्षा को इटावे को जाने वाले थे कि तब तक वे स्वयं ही घर पर आ गए। इन्होंने उनको अपनी ही रक्षा में रक्खा और जब दिल्ली को अधीन करके सरकारी फ़ौज ने इटावे पर धावा किया तो इन्होंने स्वयं उस फ़ौज का साथ दिया और वे लड़ाइयों में सम्मिलित रहे।

इस राजभक्ति के लिये इन्हें सरकार ने रुरका का इलाक़ा माफ़ी देना चाहा परंतु इन्होंने नम्रतापूर्वक यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि हमने जो कुछ किया जातीय-धर्म के अनुसार किया। इसमें पुरस्कार की क्या आवश्यकता? तब इन्हें पहले दरजे की डिप्टी

कलेक्ट़री दी गई और ८००) रु० मासिक वेतन पर बुलंदशहर को इनकी बदली हुई। यहाँ इन्होंने २० वर्ष काम किया और सन् १८८९ ई० में पेंशन लेकर फिर वे अपनी जन्मभूमि आगरे में रहने लगे। सन् १८७० ई० के प्रथम दिल्लीदरबार में इन्हें गवर्नमेंट ने राजा की पदवी प्रदान की।

यद्यपि डिप्टी कलेक्ट़री के कामों से इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था तो भी हिंदी की ओर इनका ऐसा प्रेम था कि जो समय बचता उसे ये उसी की सेवा में लगाते। इन्होंने गवर्नमेंट की बहुतेरी पुस्तकों का अँगरेज़ी और फ़ारसी से हिंदी में उल्था किया, जिनमें से एक ताज़ीरात हिंद का अनुवाद "दंडसंग्रह" है। इन्होंने बुलंद-शहर का एक इतिहास भी लिखा था जो कि हिंदी, उर्दू, अँगरेज़ी तीनों भाषाओं में छपा है। हिंदी-जगत् में आपका नाम अमर करने वाले शकुंतला, मेघदूत और रघुवंश इन तीनों पुस्तकों के भाषानुवाद हैं। इन पुस्तकों के अनुवाद में इन्होंने जो अपने पांडित्य का चमत्कार दिखलाया है वह किसी साहित्य-प्रेमी से छिपा नहीं है। भारतवर्ष तथा योरोप के विद्वानों ने भी आपको हिंदी का अच्छा कवि माना है। इनकी लेखनी में यह ख़ूबी है कि पद्य की कौन कहे गद्य में भी उर्दू फ़ारसी का एक शब्द नहीं आने पाया है, फिर भी एक एक पद सरस, सुपाठ्य और सरलता से भरा हुआ है। इनका देहांत ६९ वर्ष की अवस्था में ता० १४ जुलाई सन् १८९६ ई० को हुआ।
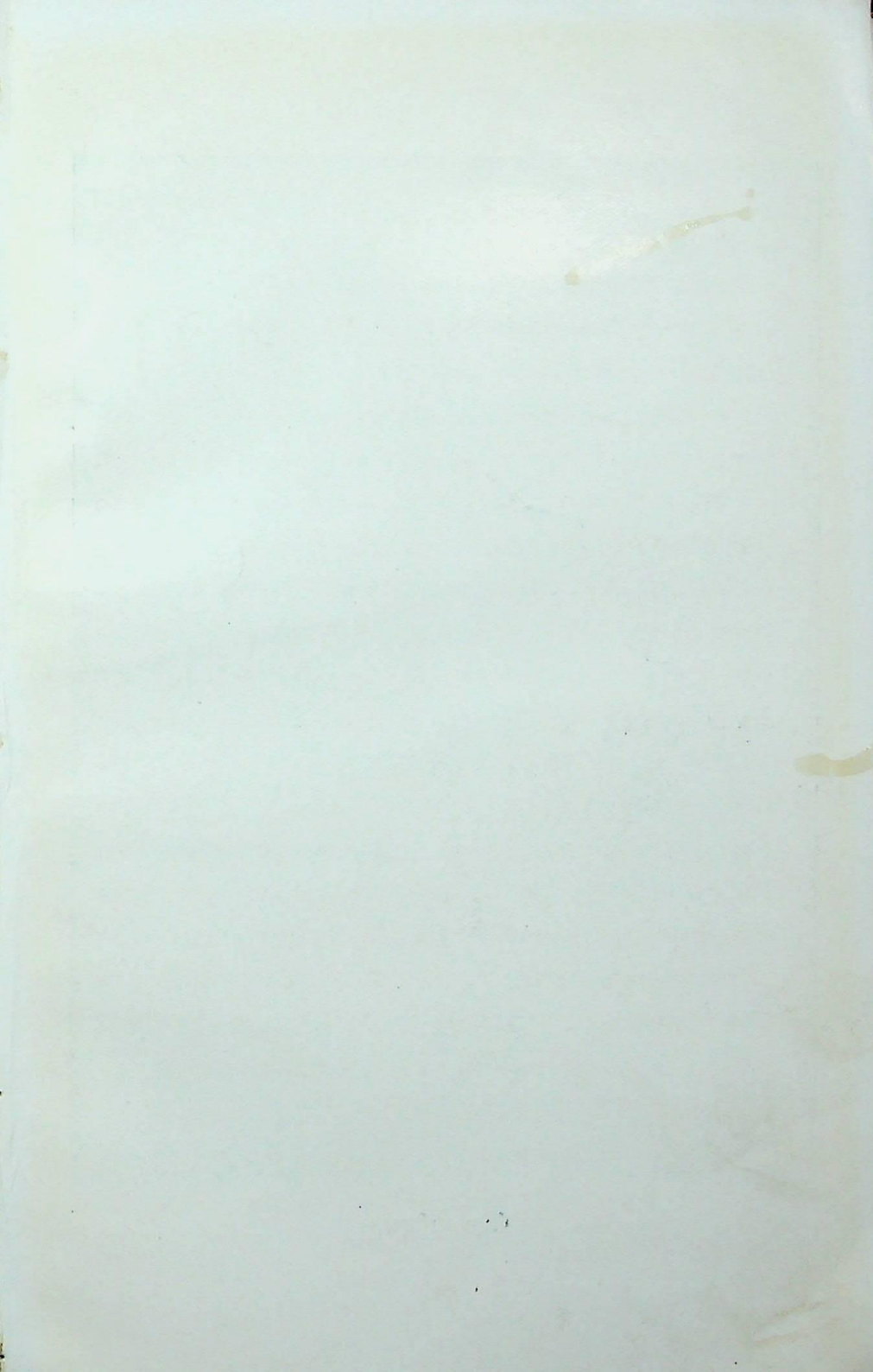
पंडित गौरीदत्त ।

(४) पंडित गौरीदत्त ।

पंडित गौरीदत्त भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। जन्मभूमि लुधियाना, जन्मतिथि मि० पौष सुदी २ संवत् १८९३ ।

पंडित गौरीदत्त के दादा नाथू मिश्र एक प्रसिद्ध तांत्रिक पंडित थे, पर इनके पिता फ़ारसी में भी अच्छी योग्यता रखते थे। वे सरकार की तरफ़ से सतलज के पुल पर सरहदी दारोग़ा थे। पंडित गौरीदत्त की कोई पाँच वर्ष की उमर थी कि इनके घर एक संन्यासी आया और उसने इनके पिता को ऐसा ज्ञान दिया कि वे तुरंत संसार का सब मायामोह छोड़ घर से निकल पड़े। तब इनकी माता अपने दोनों बच्चों सहित मेरठ को चली आईं।

पंडित गौरीदत्त को प्रथम तो प्राचीन प्रथा के अनुसार केवल साधारण पंडिताई की शिक्षा दी गई थी परंतु वय प्राप्त होने पर इन्होंने फ़ारसी और अँगरेज़ी का स्वयं अभ्यास किया। तदनंतर रुड़की कालिज में भरती होकर बीजगणित, रेखागणित, सर्वेइंग, ड्राइंग और शिल्प आदि व्यवसाय सीखे। साथ ही कुछ वैद्यक और हकीमी का भी अभ्यास किया।

सन् १८५५ ई० में पंडित गौरीदत्त १८ वर्ष की अवस्था में एक मदरसे में नौकर हो गए। परंतु इसके दूसरे वर्ष मेरठ में बलवे का ज़ोर होने से दिल्ली से आई हुई सरकारी सेना में अपने मौसा के सहकारी गुमाश्ता होकर लखनऊ तक गए। परंतु यह मृत्यु-मुख

व्यवसाय इनकी रुचि के अनुकूल न था इसलिये एक ही वर्ष में इन्होंने वह काम छोड़ दिया और मेरठ को लौट गए। बलवा भी शांत हो गया था। अस्तु इन्होंने फिर एक मदरसे में नौकरी कर ली और आनंद से समय बिताने लगे। अथ च अपने निज के कई देन लेन के व्यवसाय भी इन्होंने चलाए और चालीस वर्ष की अवस्था तक इतना धन पैदा कर लिया कि बुढ़ापे में अपने आप बैठे खा सकें, किसी के आश्रित न होना पड़े।

चालीस से पैंतालीस वर्ष की अवस्था के अंतर्गत पंडित गौरी-दत्त के जीवन में बड़ा हेर फेर हो गया। सहसा इनके जी में यह बात समा गई कि स्वार्थसंचय तो बहुत किया, अब कुछ परमार्थ या परलोक-हित कार्य करना चाहिए। यह विचार कर इन्होंने स्कूल की सेवावृत्ति छोड़ दी और अपनी मातृभाषा नागरी की सेवा करने में दत्तचित्त हुए। पहिले तो अपनी सब जायदाद देवनागरी प्रचार के लिये समर्पण कर उसकी रजिस्टरी करा दी, फिर देशाटन करना आरंभ किया और गाँव गाँव, नगर नगर देवनागरीप्रचार के लाभ समझाते हुए व्याख्यान देते फिरने लगे; जिसका परिणाम यह हुआ कि कई जगह देवनागरी के स्कूल तक खुल गए और बहुत से लोगों का चित्त इस ओर आकर्षित हो गया।

पंडित गौरीदत्त ने नागरी-प्रचार के लिये शेष जीवन में तन मन से चेष्टा की। इन्होंने नागरीप्रचार के लिये कई एक ऐसे खेल या गोरखधंधे बनाए जिन्हें देखते ही आदमी की तबीयत उनमें उलझे और नागरी अक्षरों का उसे ज्ञान हो जाय। इन्होंने स्त्री-शिक्षा पर तीन किताबें लिखीं जिन्हें गवर्नमेंट ने भी पसंद किया और इन्हें इनाम भी दिया। इनका बनाया हिंदीभाषा का एक कोष भी है जो अपने ढंग का अच्छा है। इन्होंने इस विषय में जो सब से बड़ा

काम किया वह मेरठ का नागरी स्कूल है। यह स्कूल अब भी विद्यमान है और उसमें मिडिल तक नागरी की शिक्षा दी जाती है। इसमें ८५) रु० मासिक सहायता गवर्नमेंट भी देती है। नागरी-प्रचार के संबंध में चंदे से जो रुपया आता था उसे ये नगर के रईसों के पास जमा रखते थे और वहीं से उसका जमा ख़र्च होता था। इन्होंने सन् १८९४ में स्वयं छोटे लाट के पास दफ़्तरों में नागरी-प्रचार के लिये एक मेमोरियल भेजा था और जब काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने इस विषय में प्रयत्न किया तब भी इन्होंने समुचित सहायता दी थी।

६५ वर्ष से भी ऊपर अवस्था हो जाने पर पंडित गौरीदत्त चुप चाप हो कर नहीं बैठे। जहाँ कहीं मेला होता अपना नागरीप्रचार का झंडा ले कर जाते और नागरी भाषा की उन्नति पर व्याख्यान देते। प्रत्येक सभा सोसायटी में जा कर नागरीप्रचार का गीत गाते। इनसे लोग राम राम, प्रणाम के बदले "जय नागरी की" कहा करते थे। इसी प्रकार लड़के भी हल्ला करते हुए इनके पीछे चलते थे। इनका देहांत ता० ८ फ़रवरी सन् १९०६ को हुआ। इनकी समाधि मेरठ के सूर्यकुंड पर है और उस पर मोटे अक्षरों में "गुप्त संन्यासी नागरीप्रचारानंद" अंकित है।

---

(५) मिस्टर फ़्रेडरिक पिनकाट ।

यों तो कई योरोपनिवासी विद्वान् ऐसे हो गए हैं जिन्होंने हिंदीसाहित्य में विज्ञता प्राप्त की है और अपनी भाषा द्वारा उसकी सेवा भी की है परंतु इनमें पिनकाट साहिब ही ऐसे थे जिन्हें हिंदी लिखने का व्यसन था और जो अपने भारतवासी मित्रों से प्रायः हिंदी ही में पत्र-व्यवहार करते थे। भारतवर्ष की ओर इनका बड़ा स्नेह था और इसकी भलाई का अवसर पाने पर वे कभी उससे नहीं चूकते थे। भारतवर्ष से हज़ारों कोस दूर रह कर इससे स्नेह करना इनके महत्त्व को सिद्ध करता है।

इनका जन्म सन् १८३६ ई० मे इँगलैंड में हुआ था। इनके पिता की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी अतएव उनके द्वारा इन्हें यथोचित शिक्षा नहीं प्राप्त हुई। प्रारम्भ में इन्होंने एक स्कूल में पढ़ा, पर धनाभाव के कारण पढ़ना शीघ्र ही छोड़ना पड़ा और सेवा-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ी। पहिले पहिल इन्होंने एक छापेख़ाने में कंपोज़िटरी का काम प्रारंभ किया और कुछ काल के अनन्तर प्रूफ़-रीडर नियत हुए। यहीं पर इन्हें संस्कृत पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हुई। इस भाषा का अध्ययन ये अँगरेज़ी ही के द्वारा कर सकते थे। परंतु उपयोगी पुस्तकों का मूल्य बहुत था, इसलिये वे उन्हें सहज में न मिल सकीं। बड़ी चेष्टा के बाद एक मित्र की सहायता से कुछ पुस्तकें प्राप्त हो गईं और इन्होंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ कर दिया और कुछ वर्षों के परिश्रम के अनन्तर उसमें अच्छी योग्यता प्राप्त करली। यों ही विद्या में उन्नति

के साथ ही साथ इनकी सांसारिक अवस्था में भी उन्नति हुई। कुछ काल के पीछे ये एलन कम्पनी के छापेख़ाने के मैनेजर नियत हुए। इस पद पर रह कर इन्होंने कई एक अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखीं। देशी भाषाओं में पहिले पहिल इन्होंने उर्दू का अध्ययन किया और उसके अनन्तर गुजराती, बँगला, तामिल, तैलंगी, मलायलम, और कनारी भाषाएं सीखीं और सब के अंत में हिंदी की ओर इनका अनुराग हुआ। बस फिर क्या था, हिंदी पढ़ने ही की देर थी कि और सब भाषाओं पर का अनुराग एक इसी पर आकृष्ट हो गया। हिंदी पर आप की प्रीति इतनी बढ़ी कि आप अनेक हिन्दीसमाचार पत्रों के पाठक बन गए और कभी कभी लेख भी उनमें देने लगे। होते होते इनकी सुकीर्ति चारों ओर फैलने लगी। इनकी बनाई पुस्तकें सिविल सर्विस परीक्षा में नियत हुईं और हिन्दी के विषय में इनकी बातें प्रामाणिक मानी जाने लगीं। अच्छी अच्छी हिंदी पुस्तकों पर ये अपनी सम्मति लिख कर विलायती पत्रों में छपवाते, इस प्रकार भारतवर्ष की हिंदी रसिक मंडली के हृदय में भी इन्होंने स्थान पा लिया। मृत्यु के कुछ वर्ष पहिले गिलवर्ट और रिविंटन कम्पनी के पूर्वी विभाग के ये मन्त्री नियत हुए और अंत काल तक वहीं काम करते रहे। सन् १८९५ ई० में ये भारतवर्ष में रीहा घास की खेती की उन्नति कराने के उद्देश्य से आए। पर होनी बड़ी प्रवल होती है। जिस भारतवर्ष से आप को इतना प्रेम था, वहीं उसकी गोद में आपकी आत्मा ने शांति प्राप्त की। इसी रीहा घास की खेती के उद्योग में वे लखनऊ आए और वहीं सात फ़रवरी सन् १८९६ को इन्होंने इसी देश की भूमि में अपने प्राण छोड़े।

इन्होंने अपना व्याह २३ वर्ष की अवस्था में किया। इनकी स्त्री का स्वर्गवास सन् १८८८ ई० में हुआ, संतति इनको केवल एक कन्या

हुई । इनके बनाए या संपादित ७ ग्रन्थ हैं । कई वर्षों तक इन्होंने एक व्यापारसम्बन्धी अख़बार अँगरेज़ी उर्दू और हिंदी में निकाला था । ये स्वभाव के बड़े सीधे और चरित्र के बड़े पक्के थे ।

बाबू नवीनचंद्र राय।

(६) बाबू नवीनचंद्र राय ।

सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में अँगरेज़ सरकार ने कुछ बंगाली बाबुओं को अपने काम से पंजाब को भेजा था। उनमें से राढ़ीय श्रेणी के ब्राह्मण एक राममोहन राय थे जो कि बर्दवान ज़िले के रहने वाले थे।

बाबू नवीनचंद्र राय उक्त राममोहन राय के पुत्र थे। इनका जन्म ता० २० फ़रवरी सन् १८३८ ई० में हुआ था। जब कि इनकी अवस्था केवल डेढ़ वर्ष की थी, इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और इनके भरणपोषण का भार केवल इनकी विधवा माता पर रहा। कुछ बड़े होने पर इन्होंने बँगला भाषा में रामायण पढ़ना सीख लिया। इनके घर के पास एक और बंगाली बाबू रहते थे। वे नित्य इनसे रामायण का पाठ सुनते और रोज़ कुछ पैसे इन्हें दे दिया करते थे, जिन्हें ये अपने विद्याध्ययन में ख़र्चते थे। ख़ास मेरठ में कोई शिक्षा का उत्तम प्रबंध न था। जब इनकी अवस्था ९ वर्ष की हो गई तो मेरठ से तीन चार कोस पर सर्धना के स्कूल में ये पढ़ने के लिये जाने लगे। इनका विद्याध्ययन की ओर असाधारण अनुराग इसीसे प्रकट होता है कि उस किशोर अवस्था में ये नित्य तीन चार कोस जाते और आते थे।

इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय थी, इसलिये इन्हों ने १३ वर्ष की अवस्था में सर्धना में १६) रु० मासिक पर नौकरी कर ली, परन्तु जब इन्होंने देखा कि यदि इंजीनियरिंग का अभ्यास कर लिया जाय तो कुछ बड़ी तनख़्वाह मिल सकती है तो इन्होंने

गणित का अभ्यास किया और थोड़े ही दिनों में परीक्षा पास करके वे ५०) रु० मासिक पाने लगे। इसी प्रकार इन्होंने अपने कठिन परिश्रम और अपनी कार्यनिपुणता से अपनी आय १६) रु० से लेकर सात सौ ७००) रु० मासिक तक बढ़ाई। नवीनचंद्र राय ने केवल अपनी आर्थिक अवस्था ही नहीं सुधारी वरन् इसीके साथ साथ इन्होंने अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी ख़ूब की। विद्या से इन्हें विशेष प्रेम था। इन्होंने केवल अपनी चेष्टा से अँगरेज़ी, हिंदी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत में असीम योग्यता प्राप्त कर ली और विविध भाषाओं में विविध विषयों के ग्रंथों को पढ़ कर मनुष्य-जीवनसंबंधी यावत् धार्मिक तत्त्वों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाबू नवीनचंद्र राय, योगी, संन्यासी, फ़क़ीर, पंडित, मौलवी, पादरी आदि सब मतों के धार्मिक पुरुषों से मिलते और धर्म के तत्त्वों की जाँच किया करते थे। अन्त में इन्होंने एक परब्रह्म परमात्मा को ही सब का नियंता मान कर उसी पर अपनी श्रद्धा और भक्ति स्थिर की।

बाबू नवीनचंद्र राय जैसे सब विषयों के प्रसिद्ध पंडित थे वैसे ही सदाचारी, जितेंद्रिय और दानशील भी थे। वे सदा दीन दुखी लोगों की सहायता करने और शिक्षा का प्रचार करके देशहित करने में तत्पर रहते थे। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का बीज बोनेवाले ये ही महाशय हैं। लाहौर में सबसे पुराना नार्मल फ़ीमेल स्कूल इन्हीं का स्थापित किया हुआ है। इन्होंने लाहौर में सद् विषयों पर वार्तालाप करने के उद्देश्य से एक सत्सभा खोली थी। पंजाब विश्वविद्यालय और ओरिएंटल कालिज के आप प्रधान व्यवस्थापक थे। पंजाब युनिवर्सिटी के फ़ेलो भी थे और कई वर्ष तक इन्होंने आफ़िशियेटिंग रजिस्ट्रार और प्रिंसिपल का काम भी किया था।

भारतवर्षीय भाषाओं के समुदाय के व्याकरण" पर एक लेख लिखा जो कि बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस लेख से देशदेशांतर में आपके पांडित्य का प्रकाश फैल गया। उस समय बहुतेरे लोगों का ऐसा विश्वास था कि हिंदी, संस्कृत की नहीं वरन् अनार्य भाषाओं की शाखा है परंतु हमारे डाक्टर महाशय ने संस्कृत और प्राकृत के भिन्न भिन्न व्याकरणों के नियमों और साधारण बोलचाल की तथा कविता की हिंदी के शब्दों को मिलान करके यह सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया कि हिंदी भाषा संस्कृत और प्राकृत से निकली है, इसका अनार्य भाषाओं से कोई संबंध नहीं है।

डाक्टर हर्नली सन् १८७३ में इंगलैंड को चले गए और वहाँ आप सन् ७७ तक उक्त व्याकरण की रचना में लगे रहे। सन् १८८० ई० में इस व्याकरण के प्रकाशित होते ही आप एक बड़े भारी भाषा-तत्त्वज्ञ पंडित माने जाने लगे। सन् ८२ में (Institute de France) इंस्टीट्यूट डी फ़्रांस नामी पेरिस की एक सभा ने आपको स्वर्ण-पदक अर्पण किया जो कि उस सभा से प्रतिवर्ष सर्वोत्तम ग्रंथ के लिये दिया जाता था।

सन् १८७८ में डाक्टर साहब पुनः भारतवर्ष को लौट आए और कलकत्ते के केथिड्रिल मिशन कालेज के प्रधान प्रिंसिपल नियत हुए। सन् १८८५ में आपने डाक्टर ग्रियर्सन के साथ विहारी भाषा का कोष सम्पादित करना आरम्भ किया। पर शोक है कि वह पूरा न हो सका। सन् १८८६ में आपका ध्यान चंदबरदाई-कृत पृथ्वीराज रासो की तरफ़ आकर्षित हुआ। आपने २६ वें प्रस्ताव से ३४ वें प्रस्ताव तक उसे सम्पादित करके प्रकाशित भी किया और २७ वें समय का अनुवाद भी छपवाया। परंतु जब आपको इस ग्रंथ के

चंदबरदाई कृत होने में संदेह हुआ तब इस कार्य को बंद कर दिया।

सन् १८८८—९० में आपने "उवासग दसराओ" नामक जैन-धर्मावलम्बी गृहस्थों के उपासना ग्रंथ को प्रकाशित किया जिससे जैनियों में आपका नाम हो गया। इसी अवसर में पूर्वीय तुर्किस्तान से प्राप्त हुई "बाबर की पोथी" नामक एक हस्तलिखित पुस्तक का जो कि सन् ४५० ई० के आस पास की लिखी हुई थी आपने सम्पादन किया।

सन् १८९८ ई० में गवर्नमेंट आफ इंडिया ने हर्नली साहब को मध्य एशिया से प्राप्त संस्कृत ग्रंथों की जाँच पर नियत किया। इस कार्य को भी आपने बड़ी योग्यता से सम्पादित किया। सन् १८७९ ई० में एशियाटिक सोसायटी ने आपको भाषा-तत्त्व-संबंधी मंत्री चुना। इस पद पर आपने १२ वर्ष तक कार्य किया।

लिखा जा चुका है कि हमारे चरित्र-नायक सन् ७८ में केथेड्रिल मिशन कालेज के अध्यापक नियत हुए थे। तीन वर्ष बाद आप कलकत्ता मदरसा कालेज के अध्यक्ष और प्रेसिडेंसी कालेज के अध्यापक नियत हुए। उसी अवस्था में सरकार की ओर से पुतातत्त्वसंबंधी जाँच की रिपोर्ट लिखने का काम आपको सौंपा गया। उसके पूरा होने पर सन् ९७ ई० में स्वर्गीय महारानी विक्टोरिया ने आपको सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की।

डाक्टर हर्नली सन् ९९ में चिरकाल के लिये इँगलैंड को चले गए। परन्तु उनकी सुकीर्ति अब लों यहाँ स्थिर है।

पंडित बालकृष्ण भट्ट ।

शिक्षा-विभाग से घनिष्ठ संबंध होने पर इन्होंने संस्कृत और हिंदी भाषा में अच्छी अच्छी पुस्तकों की रचना की जिनमें से बहुतेरी पुस्तकें अब तक पंजाब युनिवर्सिटी में पढ़ाई जाती हैं।

इन्होंने हिंदी में ज्ञान-प्रदायिनी-पत्रिका निकाली थी और सोशल-रिफ़ार्म-संबंधी कई पत्र निकाले और विधवा-विवाह पर एक पुस्तक रची थी। ये अपने अनुष्ठान के बड़े दृढ़ और पूरे परोपकारी पुरुष थे। इन्होंने ग़रीबों को ओषधि देने के लिये निज के कई दवाख़ाने खोले थे, तथा ये और भी जनसमुदाय के उपकार के कामों में सदा दत्तचित्त रहते थे। परिश्रमी तो इतने थे कि वृद्ध अवस्था में भी नवीन विषयों को घोखते समय पाठशाला में पढ़ने वाले बच्चों का सा परिश्रम करते थे। इनका सिद्धांत यह था कि ज्ञान और विद्या के समुद्र का पारावार नहीं है इसलिये मनुष्य को यावज्जीवन विद्योपार्जन में परिश्रम करना चाहिए।

सन् १८८० ई० में इन्होंने सरकार से पेंशन ले ली और रतलाम रियासत के दीवान हुए, पर वहाँ से भी शीघ्र चले आए और खंडवे के पास एक गाँव बसा कर उसीमें रहने लगे। इस गाँव का नाम इन्होंने ब्रह्मगाँव रक्खा था क्योंकि इसमें अधिकतर ब्राह्मण ही बसाए गए थे। सन् १८९० ई० में इनका परलोक वास हुआ।

———

(७) डाक्टर ए. एफ़. रुडाल्फ़ हर्नली, सी. आई. ई.।

वैसे तो डाकृर हर्नली योरोप महाद्वीप भर में एक सुप्रसिद्ध विद्वान् पुरुष हैं पर हमारे हिंदी-हितैषी महानुभावों में भी आपका आसन सबसे ऊँचा है। अपनी मातृ-भाषा की उन्नति के लिये चेष्टा करना हमारा तो कर्तव्य ही है परंतु आपने विदेशी होकर भी इस ओर विशेष ध्यान दिया और हिंदी-भाषासंबंधी अत्यंत कठिन प्रश्नों के हल करने का उद्योग किया—यह हिंदी के लिये विशेष गौरव और सौभाग्य की बात है।

डाकृर हर्नली के पूर्वज, जर्मन घराने के एक सुप्रसिद्ध वंश से संबंध रखते हैं। इनके पिता रेवरेंड सी० टी० हर्नली बहुत दिनों तक भारतवर्ष में पादरी थे। डाक्टर हर्नली का जन्म १९ अक्टूबर सन् १८४१ को आगरे के पास सिकंदरा में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था होने पर डाक्टर साहिब शिक्षा पाने के लिये जर्मनी को भेज दिये गए। वहाँ एक सुयोग्य शिक्षक द्वारा कुछ दिन घर पर शिक्षा पाकर स्कूल में भर्ती हुए और १७ वर्ष की अवस्था तक स्कूलों का अध्ययन समाप्त करके आप सन् १८५८ ई० में प्रोफ़ेसर स्टफ़ेंसर के पास दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने लगे और दो वर्ष में दर्शनशास्त्र का अध्ययन समाप्त करके सन् १८६० में आप संस्कृत का अध्ययन करने के लिये लंदन नगर को गए। इसके पाँच वर्ष बाद सन् १८६५ में आप काशी के जयनारायण कालिज में अध्यापक नियत होकर भारत-भूमि में सुशोभित हुए।

इसी अध्यापक अवस्था में इन्होंने "गौड़ीय भाषा अर्थात्

डाक्टर ए. एफ़. रुडाल्फ़ हर्नली, सी. आई. ई.।
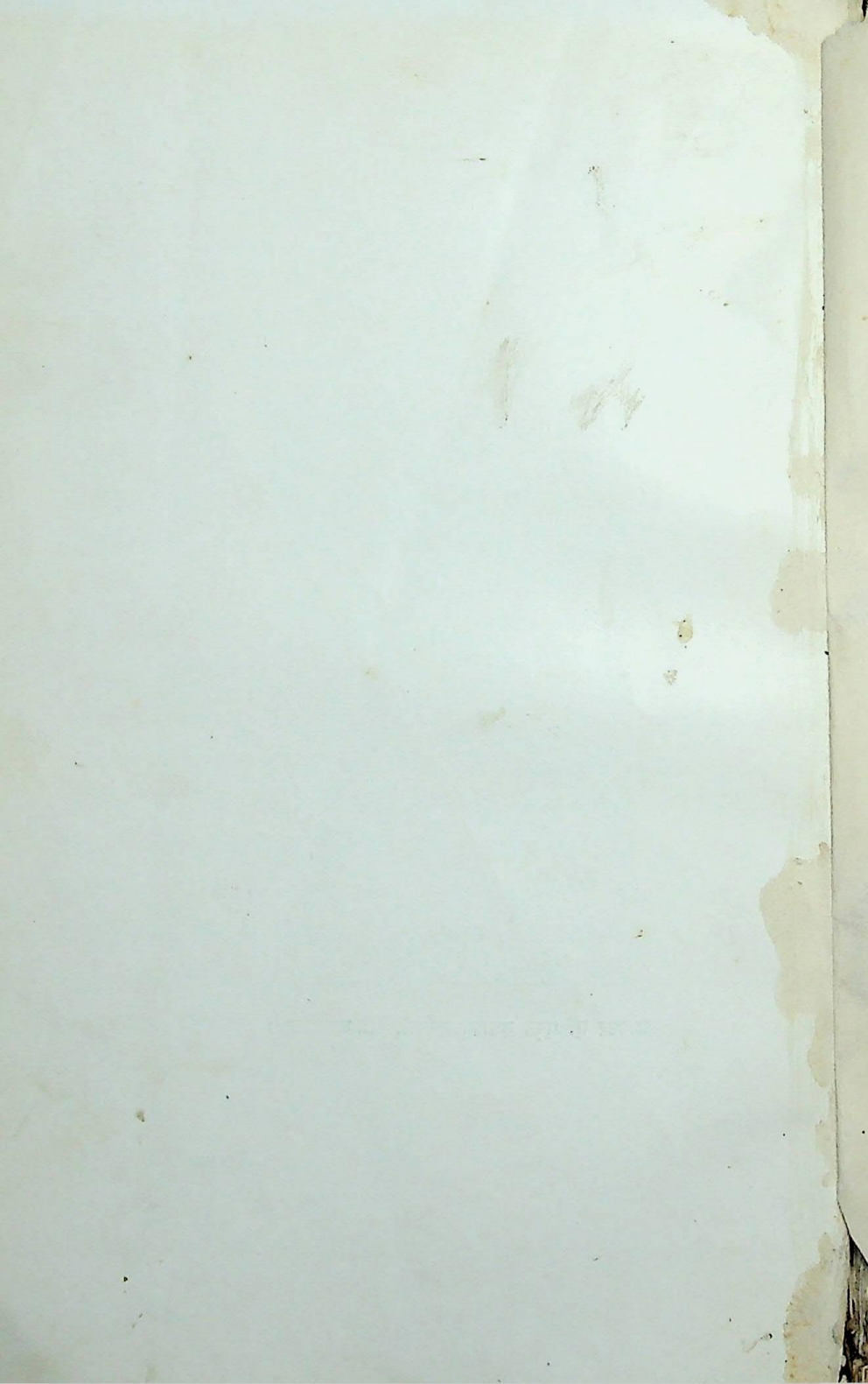
(८) पंडित बालकृष्ण भट्ट।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पूर्वपुरुष मालवा देश के निवासी थे। परंतु वे किसी कारण-विशेष से कालपी के पास बेतवा नदी के किनारे जटकरी गाँव में आ बसे। पंडित जी के प्रपितामह श्याम जी एक चतुर और विद्वान् पुरुष थे। अस्तु वे राजा साहब कुलपहाड़ के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर हो गए। उनके दो स्त्रियाँ थीं जिनसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। वे अपने सबसे छोटे पुत्र विहारीलाल पर अधिक स्नेह रखते थे इसलिये अंत समय अपनी सब सम्पत्ति का अधिकार उन्हीं को दे गए। पंडित विहारीलाल जटकरी से आकर प्रयाग में रहने लगे। इनके जानकीप्रसाद और वेणीप्रसाद दो पुत्र हुए। पंडित बालकृष्णजी वेणीप्रसादजी के पुत्र हैं। वे स्वयं पढ़े लिखे तो बहुत न थे पर इस ओर उनके चित्त की प्रवृत्ति और रुचि विशेष थी।

पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ में हुआ था। इनकी माता बड़ी विदुषी थीं इसलिये इन्हें जन्म से ही विद्याध्ययन का व्यसन लग गया। कुछ बड़े होने पर इनके पिता और चाचा आदि ने चाहा कि यह बालक दुकानदारी के काम में दत्तचित्त हो कर व्यापार-कुशल हो। परंतु ये उस ओर ध्यान नहीं देते थे और अपने पढ़ने लिखने में लगे रहते थे। ऊपर से माता का यही अनुशासन था कि बेटा तुम ख़ूब पढ़ो। तदनुसार ये १५-१६ वर्ष की अवस्था तक संस्कृत पढ़ते रहे।

सन् ५७ के ग़दर के पश्चात् देश में अँगरेज़ी राज्य का दबदबा होने से अँगरेज़ी भाषा का मान बढ़ने लगा। अस्तु, इनकी

चतुरा और दूरदर्शिनी माता ने इन्हें अँगरेज़ी पढ़ने की प्रेरणा की। माता की आज्ञा मान कर ये एक मिशन-स्कूल में भर्ती हो गए। वहाँ इन्होंने एंट्रेंस तक शिक्षा पाई और बाइबिल की परीक्षा में कई बार इनाम भी पाया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इनकी धार्मिक श्रद्धा में भी कुछ बट्टा लगा। ये अपने हिंदू धर्म पर हृदय से दृढ़ थे और इसी कारण से उस स्कूल के पादरी हेड मास्टर से वाद विवाद हो उठने पर इन्होंने स्कूल छोड़ दिया।

मिशन स्कूल छोड़ कर ये पुनः संस्कृत का अध्ययन करने लगे। व्याकरण और साहित्य का ख़ूब मनन किया। इसी बीच में ये जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो गए परंतु अपने धर्म के अटल पक्षपाती होने के कारण इन्हें यह अध्यापकत्व भी छोड़ना पड़ा।

स्वतंत्रता की धुन सवार होने के कारण ये बहुत दिनों तक बेकार बैठे रहे, परंतु इसी बीच में जब इनका विवाह हो गया तब कमाने की फ़िक्र हुई और कोई अच्छा व्यापार करने की इच्छा से ये कलकत्ता चले गए, परंतु शीघ्र ही लौट भी आए। कलकत्ते से आकर ये पहिले की तरह हाथ पर हाथ रख कर बैठे न रहे वरन् अपने अमूल्य समय को संस्कृत-साहित्य के अध्ययन और हिंदी-साहित्य की सेवा में बिताने लगे। उस समय के समस्त साप्ताहिक और मासिक हिंदी-पत्रों में लेख लिख लिख कर भेजने लगे।

इसी समय प्रयाग के कई शिक्षित युवकों ने सन् १८७७ ई० में हिंदीप्रवर्द्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की और निश्चय किया कि प्रति सभासद से पाँच पाँच रुपया चंदा इकट्ठा करके एक मासिक पत्र प्रकाशित किया जाय, तदनुसार "हिंदी-प्रदीप" का जन्म हुआ और भट्टजी उसके संपादक हुए। जब "हिंदी-प्रदीप" का प्रकाश हुआ उन्हीं दिनों में सरकार ने प्रेस एक्ट पास किया

जिससे भयभीत होकर "हिंदी-प्रदीप" के अन्य हितैषियों ने तो उससे नाता तक तोड़ दिया परंतु इन्होंने उसे हवा भी न लगने दी। मातृ-भाषा की ओर अविचल भक्ति के कारण ये उसे चलाते रहे।

बाबू हरिश्चंद्र कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नंबर भट्ट जी का है सो ठीक ही था। इनके लिखे हुए कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, जैसा काम वैसा परिणाम, आचार विडंबना, भाग्य की परख, षट् दर्शन संग्रह का भाषानुवाद, गीता और सप्तशती की समालोचना आदि लेख देखने ही योग्य हैं।

पंडित बालकृष्णजी हिंदी के एक सच्चे हितेच्छु और अच्छे लेखक हैं। आप स्वभाव के सादे सत्यप्रिय सज्जन हैं। बड़े हँसमुख भी हैं। आप सनातन-धर्म के अनुयायी हैं, पर अंधपरंपरा के पक्षपाती नहीं हैं। आपने कई वर्षों तक प्रयाग की कायस्थपाठशाला में संस्कृत के अध्यापक का काम किया है। कायस्थपाठशाला से संबंध छूटने के कुछ काल अनंतर हिंदी-प्रदीप भी बंद हो गया। इस समय आप काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के "हिंदी-शब्दसागर" नाम के कोष के संपादन कार्य में योग दे रहे हैं।

———

(६) बाबू तोताराम ।

बाबू तोतारामजी कायस्थ थे । इनका जन्म श्रावणशुक्ला १० संवत् १९०४ में हुआ था । इनके पिता लाला ज्ञानचंद, सासनी स्टेशन के पास नगलासिंह में रहते थे । पर फिर ये गौहाना में जा बसे और यहीं पर एक मदरसा स्थापित किया ।

यद्यपि अलीगढ़ के ज़िले में उर्दू और फ़ारसी का अधिक प्रचार होने के कारण बाबू तोताराम के घर के सब लोग उर्दू फ़ारसी में ही प्रवीण थे परंतु इनकी घर की भाषा हिंदी थी और घर की स्त्रियों तक को हिंदी में रामायण पढ़ने का अभ्यास था । इसीसे इन्हें आरंभ में हिंदी की शिक्षा दी गई । इन्होंने अध्ययन में ऐसी तीव्रता दिखलाई कि साल भर में ही साधारण गणित और लिखने पढ़ने योग्य हिंदी सीख ली । तब इनके पिता ने इन्हें सासनी के सरकारी स्कूल में बिठाया । वहाँ की पढ़ाई भी इन्होंने लगे हाथों समाप्त की और अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा पाने के लिये अलीगढ़ के उस स्कूल में जा भरती हुए जो कि अब अलीगढ़ कालेज के नाम से प्रसिद्ध है ।

यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इनके प्रारंभिक विद्यागुरु पंडित दोमजी बड़े शांतशील सज्जन और धर्म में श्रद्धावान् साधु पुरुष थे । बड़े होने पर बाबू तोतारामजी भी वैसे ही हुए । घर से बाहर एक आलीशान शहर में स्वतंत्र रहते हुए भी इनके आठों पहर विद्याध्ययन में व्यतीत होते थे । सन् १८६३ में इन्होंने एंट्रेंस पास कर लिया और फिर भी आगे पढ़ने के लिये आगरे के सेंट जांस कालेज में भरती हुए । यहाँ आप जिस समय बी० ए० क्लास में पढ़

बाबू तोताराम ।

रहे थे उसी समय इनके पिता का देहांत हो गया। दूसरे आँखों में भी कुछ रोग हो गया जिससे इन्हें डाक्टर के कहने से पढ़ना छोड़ देना पड़ा।

पढ़ना छोड़ देने के थोड़े ही दिन बाद आप फ़तहगढ़ स्कूल के हेड मास्टर नियत हुए और फिर आपकी बनारस को बदली हो गई। यहाँ इनका हिंदी-प्रेम और भी बढ़ गया। इन्होंने यहाँ "केटो-कृतांत" नामक पुस्तक हिंदी में लिखी। फिर बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री आदि भाषाओं का अध्ययन किया और क़ानून पास करके नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

इस प्रकार सेवा-वृत्ति से स्वतंत्र होकर इन्होंने सन् १८७७ ई० में अलीगढ़ में अपना छापाख़ाना खोला और वहीं से भारत-बंधु नामक हिंदी का साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके दूसरे वर्ष इन्होंने संयुक्त प्रांत के छोटे लाट की सहायता से लायल-लाइब्रेरी नामक पुस्तकालय स्थापित किया।

बाबू तोतारामजी हिंदी भाषा के अनन्य शुभचिंतक थे, इस विषय में इन्होंने यथासाध्य परिश्रम किया। इन्होंने एक भाषा-संवर्द्धिनी सभा स्थापित की थी जिसका यह उद्देश्य था कि हिंदी भाषा की अच्छी अच्छी पुस्तकें छपा कर सस्ते मूल्य पर बेंची जायँ। इन्होंने स्वयं कई पुस्तकें लिख कर सभा के समर्पण की थीं जिन में से एक स्त्री-सुबोधिनी है। आप अलीगढ़ की प्रदर्शिनी में लिपि-विभाग के मंत्री थे। अस्तु, आपने हिंदी-लिपि वालों को अच्छे अच्छे इनाम दिला कर उनका उत्साह दुगना किया और इसी तरह जब हिंदी भाषा की ओर से सर एंटनी मेक्डानल के यहाँ डेपुटेशन जाने वाला था तो आपने कायस्थ-कानफरेंस के सभापतित्व में ६००० कायस्थों को हिंदी के पक्ष में राय देने को बाध्य किया था।

इन्होंने 'राम-रामायण' नाम से वाल्मीकीय रामायण का भाषापद्यानुवाद करना आरंभ किया था, परंतु खेद है कि इनका यह कार्य पूरा न हो सका। इन्होंने संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद करके या करा के नवलकिशोर और व्यंकटेश्वर आदि प्रेसों में छपवाया था।

बाबू तोतारामजी जैसे मातृभाषा के प्रेमी और धार्मिक पुरुष थे वैसे ही सच्चे देश-हितैषी और समाज-प्रिय भी थे। इन्होंने समय समय पर अकाल-पीड़ित प्रजा की सहायता की। जिस समय आगरा-कालेज टूट कर अलीगढ़-कालेज में मिलाया जाने वाला था तो इन्होंने उसे क़ायम रक्खा। और और भी इसी प्रकार के देश-हितकर काम किए।

आप वैष्णव धर्म्मावलंबी थे, परंतु स्वामी दयानंदजी के भी बड़े भक्त थे। आप बड़े सदाचारी और सुशीलता के तो आदर्श थे। आपका देहांत ता० ७ दिसम्बर सन् १९०२ को हुआ।

राजा रामपालसिंह ।

(१०) राजा रामपालसिंह।
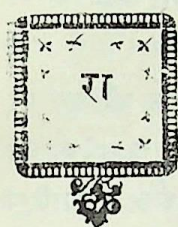
जा साहिब का जन्म एक प्रसिद्ध और प्रतापी राजकुल में हुआ था। आप अवध प्रांत के अंतर्गत प्रतापगढ़ के तअल्लुक़ेदार मृत राजा हनुमंतसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र श्रीलालप्रतापसिंहजी के इकलौते पुत्र थे। आपका जन्म संवत् १९०५ की भादों सुदी ४ को हुआ।।

राजा साहिब बाल्यावस्था ही से अत्यंत तीव्रबुद्धि और चंचलस्वभाव के थे, पर साथ ही विद्याध्ययन में अनुराग भी स्वाभाविक था। आपने सात वर्ष की अवस्था में हिंदी में पूर्णरूप से योग्यता प्राप्त कर ली थी। नागरी पढ़ लेने पर आपने फ़ारसी का अध्ययन आरंभ किया और पाँच वर्ष में फ़ारसी में पूर्ण योग्यता प्राप्त करके अँगरेज़ी और संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया।

इसमें भी राजा साहिब ने अभ्यास और बुद्धिबल से पाँच छः वर्ष में ऐसी योग्यता प्राप्त कर ली कि आप संस्कृत के क्लिष्ट और गूढ़ छंदों का मर्म समझने और अँगरेज़ी में वार्तालाप करने लगे थे।

भिन्न भिन्न भाषाओं के और भिन्न भिन्न मतमतांतरों से संबंध रखनेवाले ग्रंथों को पढ़ कर राजा साहिब के हृदय में नवीन सभ्यता ने स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिये वे एक मात्र परमात्मा को अपना आराध्य देव मान कर पुरानी लकीर के फ़क़ीर रहने के विरुद्ध हो गए। इससे इनके सब संबंधी और इनके पितामह राजा हनुमंतसिंहजी स्वयं इनसे अप्रसन्न हो गए। परंतु इन्होंने किसी

की ओर ध्यान न दिया और अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहे। १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने आनरेरी मजिस्ट्रेटी स्वीकार की और इसके अनंतर मध्यम और उच्च श्रेणी की परीक्षाओं को पास किया। राजा साहिब एक न्यायशील और देशहितैषी पुरुष थे। इसलिए अदूरदर्शी लोगों की दृष्टि में कुछ खटकने लगे।

अस्तु, राजा साहिब ने इँगलैंड जाने की, इच्छा प्रकट की, इस पर भी पुराने विचार के लोगों ने असंमति प्रकट की परंतु आप को तो उस उन्नति-शाली देश की सामाजिक, राजनैतिक और व्यापारिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की धुन सवार थी। इसलिये आपने इँगलैंड की यात्रा की। आपकी पतिव्रता धर्मपत्नी भी आप के साथ गईं। परंतु दो साल इँगलैंड में रहने पर आपकी धर्मपत्नी का शरीरपात हो गया। तब आपने एक अँगरेज़ी रमणी से विवाह किया और घर को लौट आए। परन्तु थोड़े ही दिन कालाकाँकर में रह कर आप पुनः इँगलैंड को चले गए और वहाँ जर्मन, फ्रेंच, लेटिन आदि भाषाओं और गणित का अभ्यास करने लगे। आपने अपने देश की सेवा करने की इच्छा से सन् १८८३ में वहाँ अँगरेज़ी-हिंदी में "हिंदोस्थान" नाम का पत्र भी निकाला। और उसके द्वारा इँगलैंड-वासी लोगों को इस देश की दशा का वास्तविक परिचय देने लगे। इसके सिवाय आप वहाँ की प्रत्येक सभा सोसायटी में जाते और मनोहर व्याख्यान द्वारा इस देश-वासियों के दुःख सुख की कथा सुनाते थे।

उस समय इस देश के जो विद्यार्थी इँगलैंड में विद्याध्ययन करने जाते थे राजा साहिब उन सब का बड़ा सत्कार करते थे। उन्हें अपने यहाँ बुलाते, समय समय पर भोज देते और उनके पठन पाठन में यथासाध्य आर्थिक सहायता भी करते थे। सन् १८८५ ई० में आप ने इँगलैंड से आ कर कालाकाँकर से हिंदी में "हिंदोस्थान"

नाम का दैनिक पत्र निकालना आरंभ किया। जो उनके जीवन में बराबर चलता रहा। आपने अँगरेज़ी में भी 'इंडियन यूनियन' नाम का एक पत्र निकालना आरंभ किया था परंतु कुछ दिनों के बाद वह बंद कर दिया गया। तब से "हिंदोस्थान" की एक दूसरी प्रति अँगरेज़ी में प्रकाशित होती रही।

आपने केवल हिंदी जाननेवालों को सहज में अँगरेज़ी सीख लेने के लिए "दी सेल्फ़ टीचिंग बुक्" नाम की एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी है और "रिसेंट ट्रिप टू यूरप" नाम की अँगरेज़ी भाषा की पुस्तक में आपने अपनी इँगलैंड-यात्रा का वर्णन लिखा है। आप जिस तरह अपने देश की कला कौशल और व्यापार की उन्नति चाहते थे वैसे ही मातृभाषा हिंदी के भी परम शुभचिंतक थे। आप के राज-नैतिक और सामाजिक सिद्धांत सराहनीय हैं। आप अवध के तअल्लु-क़ेदारों में एक माननीय रईस थे। आप कई बेर संयुक्त प्रदेश की कौंसिल में प्रजा के प्रतिनिधि हुए थे। सन् १९०९ ई० में आप का शरीरांत हुआ।

---

(११) बाबू गदाधरसिंह ।

बाबू गदाधरसिंह के पूर्वज काशी के रहने वाले थे। इनके पितामह खोजूसिंह पुलिस में एक साधारण सिपाही थे। इनके दो पुत्र हुए, रामसहायसिंह और गनेसूसिंह। रामसहायसिंह ने फ़ारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी इसलिये वे थानेदार के पद को पहुँच गए। और कुछ दिनों के बाद कमिश्नर के दूसरे मुंशी नियत हुए। इस समय राजा शिवप्रसाद मीरमुंशी थे और बाबू रामसहायसिंह और राजा साहिब से .खूब पटती थी। हमारे चरित-नायक बाबू गदाधरसिंह इन्हीं बाबू रामसहायसिंह के पुत्र थे। बाबू गदाधरसिंह का जन्म सन् १८४८ ई० में हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी तो इनके पिता बाबू रामसहायसिंह का देहांत हो गया जिससे इनके संबंधियों ने इनके घर की सब धन-सम्पत्ति नष्ट कर डाली। परंतु इनके पिता के मित्रों ने इनकी यथा-साध्य सहायता की और सन् १८५७ ई० में पढ़ने का लग्गा लगा दिया। दैवात् सन् १८६० में इनकी माता का भी परलोकवास हो गया और ये निपट अनाथ हो गए। पर इन्होंने हिम्मत न हारी और स्वयं सांसारिक व्यवहारों का अनुभव करते हुए सन् १८६८ में एंट्रेंस पास कर लिया।

एंट्रेंस पास कर लेने पर राजा शिवप्रसाद इन्हें १००) मासिक वेतन की सरकारी नौकरी दिलाते थे पर इन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया और स्वतंत्र जीवन बिताने की इच्छा से कोई व्यापार करने के लिये बाबू हरिश्चंद्र जी की सहायता चाही। बाबू साहिब ने इन्हें

बाबू गदाधरसिंह ।
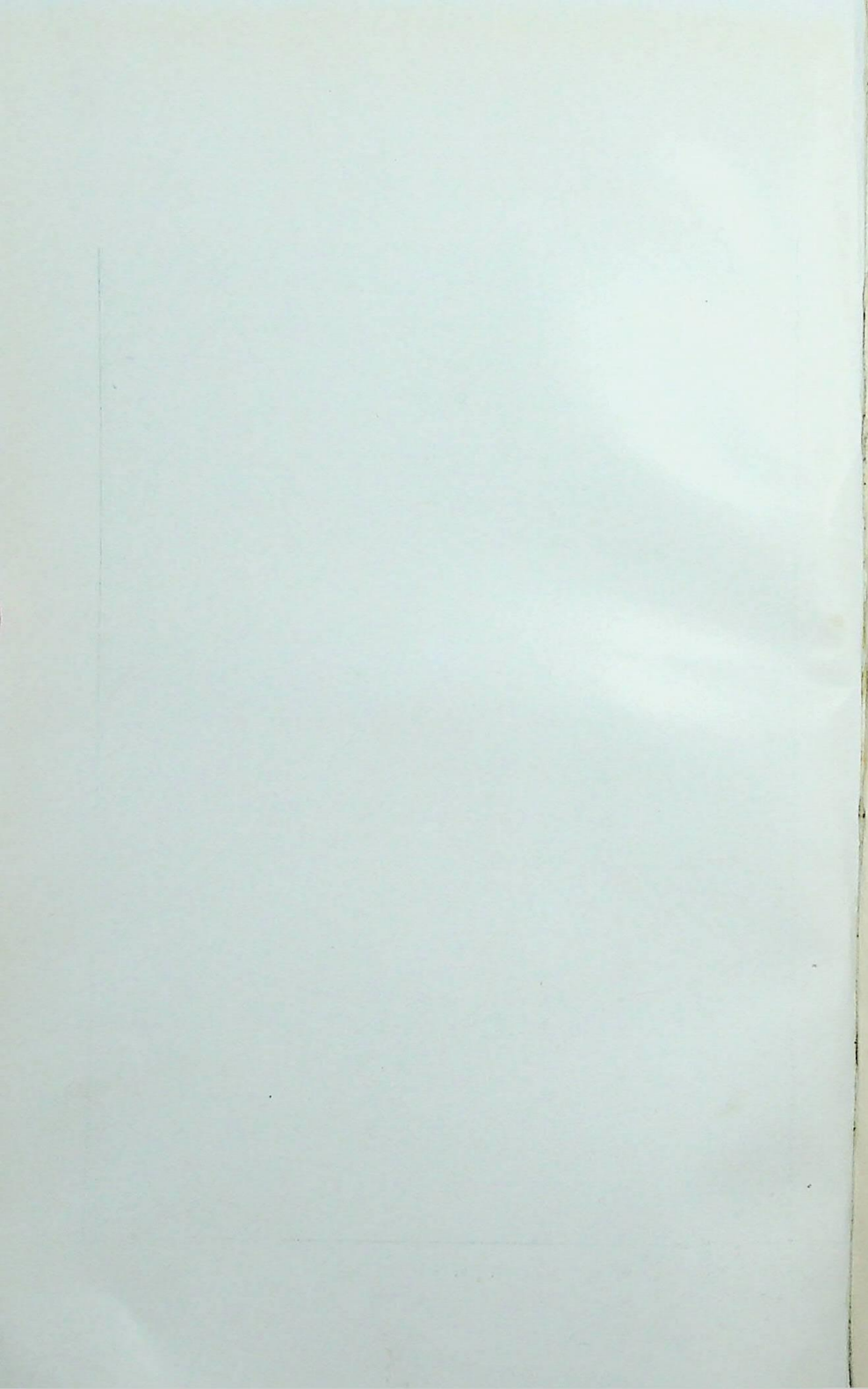
तुरंत १०००) रु० दिए और ये दो एक मित्रों के साथ कलकत्ते को चले गए। वहाँ से कुछ किराना आदि ख़रीद कर लाए, पर इनका व्यापार चला नहीं। इसलिए इन्हें विवश हो कर १६) रु० मासिक पर हरिश्चंद्र स्कूल में नौकरी स्वीकार करनी पड़ी।

सन् १८७१ में राजा शिवप्रसाद की सहायता से बाबू गदाधरसिंह बंदोबस्त-विभाग में नौकर होकर कानपुर को चले गए। वहाँ रह कर इन्होंने पहिले पहिल हिंदी में कादम्बरी उपन्यास लिखा जिसका कुछ भाग हरिश्चंद्रचंद्रिका में प्रकाशित हुआ और फिर सन् १८७८ में वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। सन् १८७४ में बंदोबस्त का काम समाप्त हो जाने पर ये आज़मगढ़ में क़ानूनगो नियत हुए। कुछ दिनों के बाद कोर्ट आफ़ वार्डस् में नियत होकर ये जौनपुर के राजा के यहाँ आए, पर थोड़े ही दिनों में फिर अपने पद पर आज़मगढ़ को वापस चले गए। वहाँ इन्होंने सन् १८८३ तक काम किया और इसी बीच में दुर्गेशनंदिनी का भाषानुवाद किया।

सन् १८८३ ई० में पेशकार के पद पर नियत होकर इनकी आज़-मगढ़ से मिर्ज़ापुर को बदली हो गई। यहाँ इन्होंने सन् १८९३ तक बड़ी योग्यता से काम किया। मिर्ज़ापुर में ही इन्होंने वंगविजेता का भाषानुवाद करके उसे छपवाया और स्त्री का परलोकवास हो जाने पर सन् १८८४ ई० में अपने उत्तराधिकारी स्वरूप अपने आर्यभाषा पुस्तकालय को स्थापित किया।

सन् १८९० तक यह पुस्तकालय मिर्ज़ापुर में रहा, परंतु इस सन् के अंत में इन्होंने बनारस आकर इसे हनुमान सेमिनरी स्कूल के प्रबंध में छोड़ दिया। इसी बीच में इनकी इटावे को बदली हो गई और यहाँ न रहने के कारण इनके प्यारे पुस्तकालय की उन्नति के बदले अवनति होने लगी। इन्होंने इटावे में छः वर्ष काम किया

और उथेलो, रोमन-उर्दू की पहली किताब और भगवद्‌गीता ये तीन ग्रंथ लिखे।

लगातार बहुत दिनों तक कार्य करने से व्यथित होकर तथा अपने पुस्तकालय की स्थिति सुधारने की इच्छा से इन्होंने दो वर्ष की छुट्टी ली और सन् १८९६ ई० के जुलाई मास में ये बनारस चले आए। यहाँ सन् १८९३ ई० में काशी-नागरीप्रचारिणी सभा स्थापित हो चुकी थी। और सन् १८९४ ई० से आप उसके एक सभ्य भी थे। अस्तु, जब इन्होंने सभा का उचित प्रबंध देखा तो अपना आर्यभाषा पुस्तकालय सभा को समर्पण कर दिया जो अब तक उसकी रक्षा में उन्नति कर रहा है। मरने के पहिले इन्होंने अपनी सब संपत्ति पुस्तकालय के नाम लिख दी थी। पर मुक़द्दमे के चलने से वह सब उसी में समाप्त हो गई। काशी में आकर भी इन्होंने दो एक ग्रंथ लिखे परंतु इनका सब से उत्तम और अंतिम लेख ऐतिहासिक और पौराणिक विवरण की एक डायरी थी परंतु वह अधूरी ही रह गई।

बाबू गदाधरसिंह का देहांत २९ जूलाई सन् १८९८ ई० को हुआ। वे एक स्वच्छ और उदार स्वभाव के पुरुष थे तथा उच्च अभिलाषी और देशहितैषी और मातृभाषा के सच्चे प्रेमी थे।
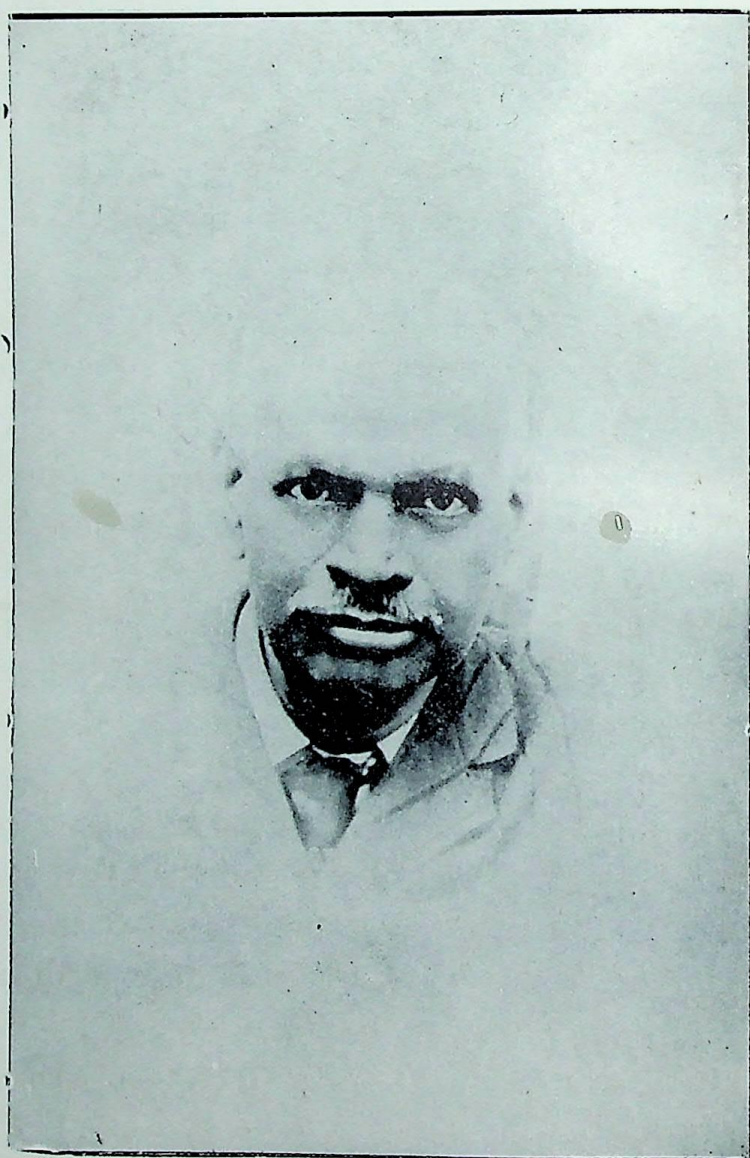
रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए० ।

(१२) रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०

रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर जी सरयूपारी ब्राह्मण थे, इन के पिता का नाम रामजसन मिश्र था। वे संस्कृत कालेज बनारस में प्रोफ़ेसर और काशी के प्रतिष्ठित पुरुषों में थे।

पंडित लक्ष्मीशंकर का जन्म सन् १८४९ ई० में हुआ था। ये लड़कपन से ही सुशील, गंभीर और तीव्रबुद्धि थे। आठ वर्ष की अवस्था होने पर ये बनारस कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने के लिये बैठाए गए। इन्होंने प्रति वर्ष योग्यतापूर्वक इम्तिहान पास किया, कभी फ़ेल नहीं हुए। सन् १८६९ ई० में बी० ए० पास किया। यद्यपि गणित एक क्लिष्ट विषय है परन्तु आपकी गणित पर ही विशेष रुचि रहती थी। इसीसे सन् १८७० ई० में आप ने गणित में ही 'आनर्स' के साथ एम० ए० पास किया।

पंडित लक्ष्मीशंकर जैसे तीव्रबुद्धि थे वैसे ही सुयोग्य भी थे। उस समय बनारस कालेज के प्रधान अध्यापक ग्रिफ़िथ साहेब इनकी योग्यता पर मुग्ध थे। उन्होंने इन्हें बनारस कालेज में गणित का अध्यापक नियत किया। इनकी पढ़ाने की शैली भी ऐसी अच्छी थी कि गणित ऐसे कठिन विषय को सहज में समझा देते थे।

उस समय बनारस में "बनारस इंस्टीट्यूट" नाम की एक सभा थी। डाक्टर थीबो, सर सैयद अहमदख़ाँ और राजा शिवप्रसाद आदि बड़े बड़े योग्य पुरुष उसके सभासद थे। पंडित लक्ष्मीशंकर भी उसमें संमिलित थे। ये उस सभा में बड़े गूढ़ विषयों पर ऐसे अच्छे व्याख्यान देते थे कि जिनकी बड़े बड़े विद्वान् प्रशंसा करते थे।

पंडित लक्ष्मीशंकर समय का बड़ा आदर करते थे। वे अपना किंचित् मात्र भी समय व्यर्थ न जाने देते थे। नित्य के आवश्यक कामों से जो समय बचता उसमें आप उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखा करते थे। पहिले पहिल इन्होंने त्रिकोणमिति (Trigonometry) नामक एक ग्रंथ लिखा जिसके लिए इस प्रांत की गवर्नमेंट ने इन्हें एक हज़ार रुपया इनाम दिया। इसके पीछे हिंदी में गणितकौमुदी की रचना की। यह पुस्तक अब तक पाठशालाओं में पढ़ाई जाती है।

सात वर्ष तक पंडित जी गणित के अध्यापक रहे। इसके बाद सन् १८७७ ई० में आप विज्ञानशास्त्र के अध्यापक हुए। इस समय इन्होंने विज्ञान पर पुस्तकें लिखना आरंभ किया और पदार्थविज्ञान-विटप, प्राकृतिक भूगोलचंद्रिका, वायुचक्रविज्ञान, स्थिति-विद्या, गति-विद्या आदि नाम की परम उपयोगी पुस्तकें लिख कर हिंदी के भंडार में विज्ञानशास्त्र का बीज बो दिया।

बनारस नार्मल स्कूल के हेड मास्टर बाबू बालेश्वरप्रसाद जी हिंदी में काशीपत्रिका नाम की एक पाक्षिक पत्रिका को स्वयं संपादन कर के प्रकाशित करते थे। सन् १८८५ ई० में जब पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र बनारस ज़िले के स्कूलों के इंस्पेक्टर नियत हुए तब इन्होंने काशीपत्रिका के सब अधिकार इनको दे दिये। तब उसी संबंध में इन्होंने काशी में अपना चंद्रप्रभा प्रेस खोला और उक्त काशीपत्रिका को साप्ताहिक रूप में प्रकाशित करना आरंभ किया। यह पत्रिका अपने ढंग की एक ही थी। इसे गवर्नमेंट ने मदरसों के लिए स्वीकार किया था।

जिस समय पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र इंस्पेक्टर नियत हुए उस समय इस ज़िले के स्कूलों की पढ़ाई की अवस्था बड़ी अनिश्चित थी। पंडित जी ने उसका यथोचित सुधार किया। गवर्नमेंट ने इन्हें सन्

१८८८ में इलाहाबाद की कमिश्नरी का इंस्पेक्टर नियत किया। इन्होंने दोनों ज़िले में बड़ी योग्यता से कार्य्य किया। इनकी कार्य्य-प्रणाली से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने इन्हें सन् १८८६ ई० में रायबहादुर की पदवी प्रदान की।

पंडित लक्ष्मीशंकर जी कलकत्ता और इलाहाबाद दोनों विश्वविलयों के फ़ेलो थे। शिक्षा-संबंधी क़ानून बनाने में सदा इनकी संमति ली जाती थी। सन् १८८२ ई० में जब लार्ड रिपन ने शिक्षा कमिशन बैठाया था तो इस प्रांत से आप ही प्रतिनिधि होकर गए थे। इन्होंने कमिशन के प्रश्नों का बड़ी योग्यता से उत्तर दिया था। शिक्षा-विभाग में आप का बड़ा आदर था। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के आप कई वर्षों तक सभापति रहे और उसकी प्रारंभिक अवस्था में उसकी उन्नति के मूल कारण हुए।

आप का देहांत ता० २ दिसंबर १९०६ ई० को हुआ।

---

(१३) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ।

सुप्रसिद्ध सेठ अमीरचंद के दोनों पुत्र राय रतनचंद बहादुर और शाह फ़तहचंद काशी में आ बसे थे। शाह फ़तहचंद के पौत्र बाबू हरखचंद ने अपने ही सद्व्यवहार से असंख्य संपत्ति कमाई और उसे सत्कार्य में व्यय करके बड़ी बड़ाई भी पाई। इनके पुत्र बाबू गोपालचंद हुए जो हिंदी भाषा के बड़े अच्छे कवि हो गए हैं। इन्होंने पौराणिक आधार पर ४० काव्य-ग्रंथ रचे और संस्कृत में भी कुछ कविता की। इनके सुपुत्र बाबू हरिश्चंद्र हुए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म तारीख़ ९ सितंबर सन् १८५० ई० में हुआ था। बाबू साहिब का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। जिस समय केवल सात वर्ष की अवस्था थी तभी आपने एक दोहा रच कर पिता को समर्पित किया था। उस पर प्रसन्न हो कर पिता ने इनको आशीर्वाद दिया कि तू अवश्य मेरा मुख उज्ज्वल करेगा। सो ऐसा ही हुआ भी। परंतु जिस समय इनकी अवस्था ९ वर्ष की थी इनके पिता का परलोकवास हो गया जिससे इनकी स्वतंत्र प्रकृति को और भी स्वच्छंदता प्राप्त हो गई और ये सब काम मनमाने करने लगे। उसी समय इनकी पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। पहिले तो इन्होंने कुछ दिन राजा शिवप्रसाद से अँगरेज़ी पढ़ी, फिर कालेज में बैठाए गए। आप कालेज जाते, अपना सबक़ भी याद कर ले जाते और अपनी विचित्र बुद्धि से पाठकों को भी संतुष्ट रखते परंतु मन लगा कर न पढ़ते थे। तीन चार वर्ष तक तो इनके पढ़ने पढ़ाने का सिलसिला ज्यों त्यों चलता

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र।
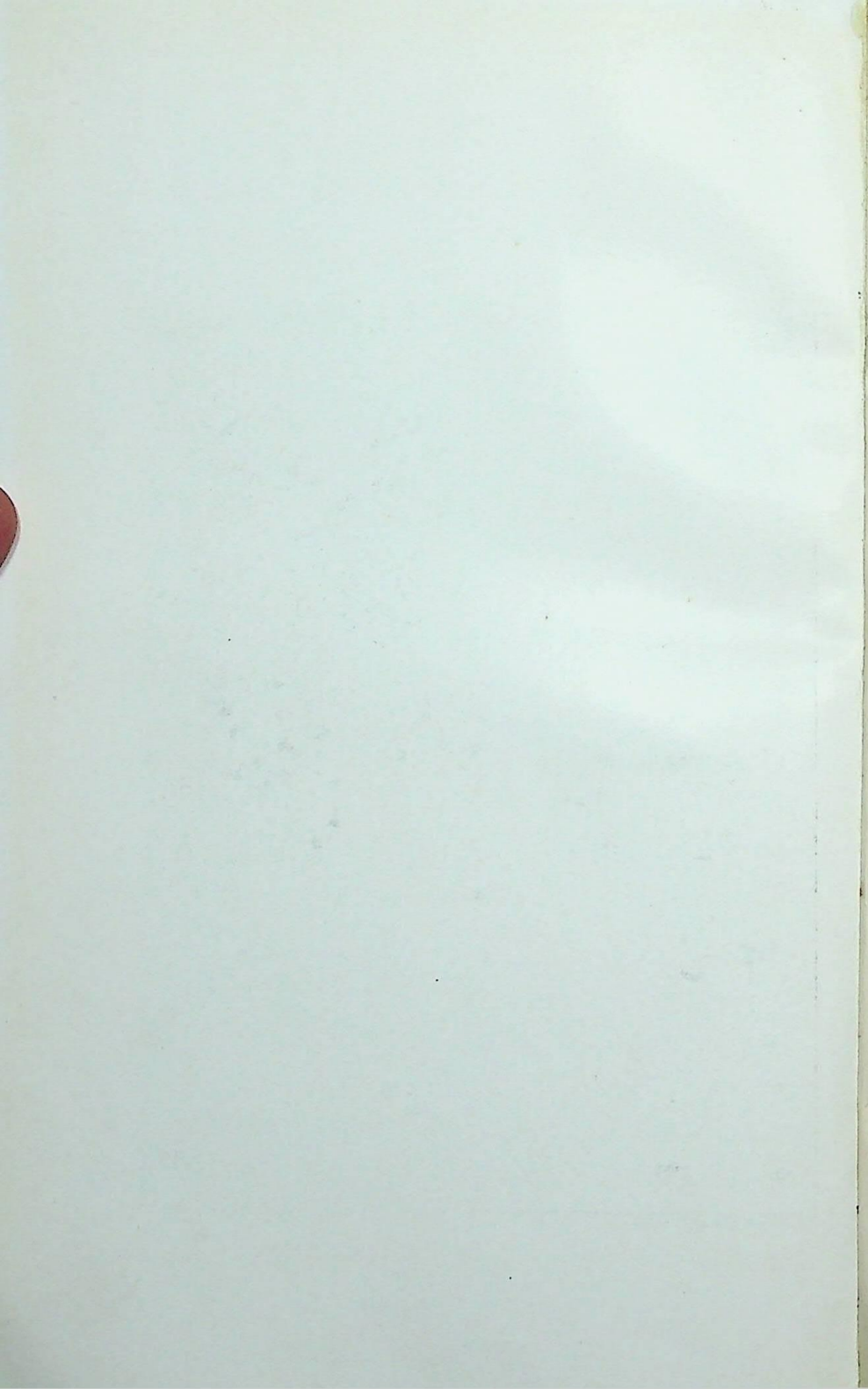
गया परंतु सन् १८६४ ई० में अपनी माता के साथ ज्यों हीं ये जगन्नाथ जी को गये त्यों ही इनका पढ़ना लिखना भी छूट गया। परन्तु कविता की ओर विशेष रुचि बढ़ गई।

जिस समय ये जगन्नाथ जी से लौट आए तो इनके चित्त में देशहित का अंकुर प्रस्फुरित हुआ। इनको निश्चय हो गया कि पाश्चात्य शिक्षा के बिना कुछ नहीं हो सकता इसलिए स्वयं पठित विषयों का अभ्यास करने लगे और अपने घर पर एक स्कूल भी खोल दिया जिसमें उस महल्ले के बहुत से लड़के पढ़ने आने लगे। समय पाकर यह स्कूल चौखंभा स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज कल यही स्कूल हरिश्चंद्र स्कूल कहलाता है। इसके दूसरे वर्ष सन् १८६८ ई० में इन्होंने "कविवचनसुधा" को जन्म दिया जिससे एक काशी के क्या जहाँ तहाँ के सब भाषा-कवियों की कविता प्रकाशित होने का द्वार खुल गया और जिसे पढ़ते पढ़ाते कई एक हिंदी-प्रेमी अच्छे लेखक हो गए। सन् १८७० में इन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेट का पद मिला परन्तु कुछ दिन बाद आपने स्वयं इस पद को छोड़ दिया। सन् १८७३ में आपने हरिश्चंद्र मेगज़ीन प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया परंतु केवल आठ अंक निकाल कर वह बन्द कर दिया गया।

वैसे तो बाबू हरिश्चंद्र हिंदी गद्य पद्य की रचना सन् १८६४ से करने लगे थे। परंतु सन् १८७३ में इनकी लेखनी खूब परिमार्जित हो चुकी थी इसलिए अपने लेखन का आरंभ-काल इन्होंने सन् १८७३ से माना है। इस वर्ष इन्होंने पेनी रीडिंग (Penny Reading) नाम का समाज स्थापित किया, जिसमें हिंदी के अच्छे अच्छे लेखक लेख लिख लिख कर ले जाते अथवा समस्यापूर्ति कर के सुनाते थे। इसी वर्ष में इन्होंने कर्पूरमंजरी और चंद्रावली नाटकों की रचना की।

बाबू साहेब स्वयं जैसे बुद्धिमान् विद्वान् चतुर और बहुकला-कुशल थे वैसे ही वह और और गुणी जनों का भी आदर किया करते थे। उनका उचित संमान करते तथा उन्हें उचित पारितोषिक भी देते थे। इसीसे इनके यहाँ सदैव अच्छे अच्छे पंडितों, कवियों और अन्य प्रकार के गुणी लोगों का जमाव रहता था।

सन् १८७३ ही में आपने "तदीय समाज" नाम की एक सभा स्थापित की जिसका उद्देश्य केवल प्रेम और धर्मसंबंधी विषयों पर विचार करना था। दिल्ली दरबार के समय इस समाज ने गोरक्षा के लिए एक लाख प्रजा के दस्तख़त करवाए थे। इसी प्रकार इन्होंने कई एक सभा समाजें स्थापित कीं, पत्र निकाले, या सहायता दे कर निकलवाए। और निज से पारितोषिक और इनाम दे देकर कई एक को कवि और सुलेखक बना दिया। इन्होंने अधिकतर नाटक और कविता में ही सब ग्रंथ रचे, इनके रचित ग्रंथों में काव्यों में प्रेम-फुलवारी, नाटकों में सत्य हरिश्चंद्र, चंद्रावली, धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में तदीयसर्वस्व और ऐतिहासिक रचना में काशमीर-कुसुम, चुने हुए ग्रन्थ हैं। आप ऐतिहासिक विषय के बड़े प्रेमी थे और आप की रचना प्रायः सब ऐतिहासिक विषयों से सम्बन्ध रखती है।

बाबू हरिश्चंद्र जी की हिंदी चिर ऋणी रहेगी। यह इन्हीं के उद्योग का फल है कि आज दिन हिंदी का इतना प्रचार है। इसकी सहायता में इन्होंने अपने को सब प्रकार के सुखों से वंचित कर दिया। हिंदी आकाश मंडल में, जब कि घोर अंधकार छा रहा था, भारतेंदु के उदय से वह प्रकाश फैला कि जिसकी कौमुदी से अब तक लोग आनंदित और सुखी होते हैं। इन्हों बातों का स्मरण कर समस्त हिंदी समाचारपत्रों ने भारतेंदु की उपाधि से इन्हें सम्मानित

किया । इस उपाधि का आदर राजा और प्रजा दोनों ने किया जो हिंदी के लिए एक विचित्र घटना है ।

बाबू साहिब का स्वर्गलोकगमन ३५ वर्ष की अवस्था में तारीख़ ६ जनवरी सन् १८८५ को हुआ ।

---

(१४) पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के पूर्वज गुजरात देश के रहनेवाले थे। वहाँ पर मुसलमानी राज्य में अधिक उपद्रव होने से केशवराम पंड्या अपने पाँच लड़कों सहित दिल्ली को चले आए। केशव-राम के जेष्ठ पुत्र का नाम निर्भयराम था। केशवराम के पश्चात् निर्भयराम तो आगरे में रहने लगे और उनके और और भाई, कोई पंजाब में, और कोई अन्य स्थानों में जा बसे।

निर्भयरामजी के संतान के लोग साहूकारी का व्यापार करने लगे। मोहनलालजी के दादा गिरिधारीलाल तक तो यह कार्य्य अच्छा चलता रहा परंतु उनके मरने पर प्रबंध अच्छा न होने से काम बिगड़ गया। इसलिए मोहनलालजी के पिता विष्णुलालजी आगरे से मथुरा को चले आए और यहाँ सेठ लक्ष्मीचंद के यहाँ पहिले दरजे के मुनीबों में नौकर हुए।

पंडित मोहनलालजी का जन्म संवत् १६०७ मि० अगहन बदी ३ मंगलवार को हुआ था। सात वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हो जाने पर इन्हें हिंदी और संस्कृत की शिक्षा दी जाने लगी। इसके दो वर्ष बाद आप आगरे के सेंट जांस कालेज के स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ने को बिठाए गए। इसके बाद जहाँ जहाँ इनके पिता की बदली होती गई वहाँ वहाँ आप उनके साथ रह कर बराबर अध्ययन करते रहे।

मोहनलालजी के पिता ने इन्हें पूर्ण-रूप से शिक्षा देने के अभि-

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ।

प्राय से बनारस को अपनी बदली करवा ली और वे यहाँ नियतरूप से रहने लगे। तब आप भी बनारस में आ कर क्वींस कालेज के एंट्रेंस क्लास में भर्ती हो गए, परन्तु कुछ उद्दंड स्वभाव होने के कारण इनसे और इस स्कूल के हेडमास्टर पंडित मथुराप्रसाद मिश्र से न पटी। इसीलिये इन्होंने जयनारायण कालेज में अपना नाम लिखवाया परंतु वहाँ अधिकतर लड़के बंगाली थे इसलिए इन्हें विवश हो कर दूसरी भाषा बँगला लेनी पड़ी। यथासाध्य चेष्टा करने पर भी जब आप दूसरी भाषा में बार बार फेल हुए तब आपने स्कूल तो छोड़ दिया परंतु ख़ानगी तौर पर लिखने पढ़ने का अभ्यास न छोड़ा।

मोहनलालजी के पिता महाजनी काम काज के बाद बाबू हरिश्चंद्रजी के घर भी जाया आया करते थे। इसीसे इनका भी वहाँ जाना आना होने लगा और इन दोनों समवयस्क युवाओं में थोड़े ही दिनों में गाढ़ी मित्रता हो गई, बस इनकी दिन रात वहीं बैठक रहने लगी। बाबू साहिब के यहाँ जो विद्वान् पंडित लोग आते और शास्त्रगर्भित बातों पर वाद विवाद करते उन्हें आप भी ध्यानपूर्वक सुनते और मनन करते। आप का कथन है कि हिंदी भाषा के अद्वितीय पंडित और तुलसीकृत रामायण के मर्मज्ञ पंडित बेचनरामजी भी प्रायः बाबू साहिब के यहाँ आते थे। उन्होंने हम दोनों को हिंदी भाषा के तत्त्व समझाए और इस ओर हमारे चित्त को आकर्षित किया। फिर क्या था, हम लोगों ने परस्पर इस बात की सौगंद कर ली कि परस्पर हिंदी भाषा के सिवाय दूसरी भाषा का व्यवहार कदापि न करेंगे। फ़ारसी और उर्दू को जानते हुए भी हम लोगों ने उस ओर से अपना मन मोड़ लिया।

जब मोहनलालजी के पिता का देहांत होने लगा तो वे इन्हें अपने परममित्र मुमताज़ुद्दौला के नव्वाब सर फ़ैज अलीख़ाँ के सपुर्द कर गए। उन्होंने बड़ौदा कमिशन के समय इन्हें अपना काँफ़ीडेंशल

क्लर्क नियत किया और राज-कार्य्य-संबंधी कामों की शिक्षा दी। सन् १८७७ में उनके अपने पद पर से इस्तीफ़ा दे देने पर इन्होंने उदयपुर राज्य में नौकरी कर ली और श्रीनाथद्वारा और काँकरौली के महाराजों की नाबालिग़ी में उन रियासतों का अच्छा प्रबंध किया। इसके बाद इन्हें उदयपुर की सदर अदालत की दीवानी का काम मिला और फिर कुछ दिनों में इन्हें स्टेट काउंसिल के मेंबर और सिक्रेटरी का पद प्राप्त हुआ। १३ वर्ष उदयपुर राज्य की सेवा करके इन्होंने वहाँ से इस्तीफ़ा दे दिया और प्रतापगढ़ राज्य के दीवान नियत हुए। यहाँ से पिंशन लेकर आप मथुरा जी में आ बसे।

जिस समय मोहनलालजी बनारस में थे उस समय परम प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र अक्सर बाबू हरिश्चंद्रजी के यहाँ आया करते थे। उन्होंने इनकी रुचि देख कर इन्हें पुरातत्त्व की शिक्षा दी जिससे इनकी योग्यता और भी बढ़ गई। इस विषय में अँगरेज़ विद्वान् भी आप की प्रशंसा करते हैं। इन्होंने महारानी विक्टो-रिया की जुबिली के समय भारत सरकार में १०००) रुपया जमा कर के यह प्रार्थना की थी कि इस धन से प्रतिवर्ष दो तमग़े उन दो छात्रों को मिला करें जो कलकत्ता यूनिवरसिटी की परीक्षा में सब से अौवल आवें। इसे सरकार ने धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया। अब ये दोनों मेडल इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्रति वर्ष दिए जाते हैं।

इन्होंने हिंदी में १२ पुस्तकें रची हैं। पृथ्वीराज रासो की संरक्षा की और उसका संपादन भी किया। हिंदी के विद्वानों में पुरातत्त्व की रुचि और उसमें दक्षता रखने वालों में आप का स्थान उच्च था। आप का देहांत ४ दिसंबर १९१२ को मथुरा जी में हुआ।

लाला श्रीनिवासदास ।

(१५) लाला श्रीनिवासदास ।

लाला श्रीनिवासदास जाति के वैश्य थे। उनके पिता का नाम लाला मंगलीलाल जी था। वे मथुरा के सुप्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद जी के प्रधान मुनीब थे। कहने को तो वे मुनीब थे पर वास्तव में वे सेठ जी के दीवान थे। वे दिल्ली की कोठी के कारिन्दे थे और वहीं रहते थे।

लाला श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ सन् १८५१ ई० में हुआ था। ये बाल्यावस्था ही से बड़े शीलवान्, सदाचारी और चतुर थे। इन्होंने आरंभ में हिंदी और फिर उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत और अँगरेज़ी आदि भाषाओं में अभ्यास करके शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

लाला श्रीनिवासदास ने छोटी उम्र में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। महाजनी कारोबार में तो इन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त कर ली थी कि केवल अठारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली की कोठी का सारा कारोबार हाथों हाथ सँभाल लिया। इनकी ऐसी योग्यता देख कर पंजाब प्रांत की गवर्नमेंट ने इन्हें म्युनिसिपल कमिश्नर बनाया और आनरेरी मजिस्ट्रेट की पदवी प्रदान की। इनकी जैसी रीझ बूझ सरकार में थी वैसे ही बिरादरी वाले और शहर के महाजन लोग भी इनको मानते थे।

लाला श्रीनिवासदास को दिल्ली की कोठी का कारोबार करने के अतिरिक्त इधर उधर दौरा कर के और और कोठियों की भी देख

भाल करनी पड़ती थी, इससे इन्हें अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने का और भी अच्छा अवसर हाथ लगा। इन्हें मातृभाषा हिंदी से स्वाभाविक प्रेम था। आप जहाँ कहीं बाहर जाते और वहाँ कोई हिंदी का लेखक या रसिक होता तो उससे अवश्य ही मिलते। यदि इनके यहाँ कोई हिंदी का गुणग्राही आ जाता तो सब काम छोड़ कर उससे बड़े प्रेम से मिलते और उसका अच्छा सत्कार करते थे।

एक बार आप पंडित प्रतापनारायण मिश्र के यहाँ मिलने गए और बड़ी नम्रतापूर्वक इन्होंने उन्हें एक मोहर नज़र करनी चाही। इस पर पंडित प्रतापनारायण बेतरह बिगड़े और बोले, आप हमारे पास अपने धन की ग़रूरी बतलाने आए हो। इसके उत्तर में इन्होंने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़ कर उत्तर दिया कि नहीं महाराज, मैं तो मातृभाषा के मंदिर पर अक्षत चढ़ाता हूँ।

लाला श्रीनिवासदास को हिंदी से बड़ा प्रेम था और इसकी सेवा करने का बड़ा उत्साह था परंतु काम काज के झंझट के कारण इन्हें अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिये इनके लिखे हुए तप्तासंवरण, संयोगितास्वयंवर, रणधीरप्रेममोहिनी और परीक्षागुरु ये ही चार ग्रंथ हैं, पर फिर भी ये चारों ग्रंथ एक से एक बढ़ कर हैं। परीक्षागुरु में इन्होंने जो एक साहूकार के पुत्र के जीवन का दृश्य खींचा है उसे देख कर स्पष्ट प्रगट होता है कि इन्हें सांसारिक व्यवहारों का कैसा अच्छा अनुभव था।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि लाला श्रीनिवासदास केवल ३६ वर्ष की अवस्था में संवत् १९४४ (सन् १८८७ ई०) में कालकवलित हुए। यदि ये कुछ दिन और रहते तो हिंदी भाषा की बहुत कुछ सेवा करते। इनका चरित्र और स्वभाव आदर्श मानने योग्य है।
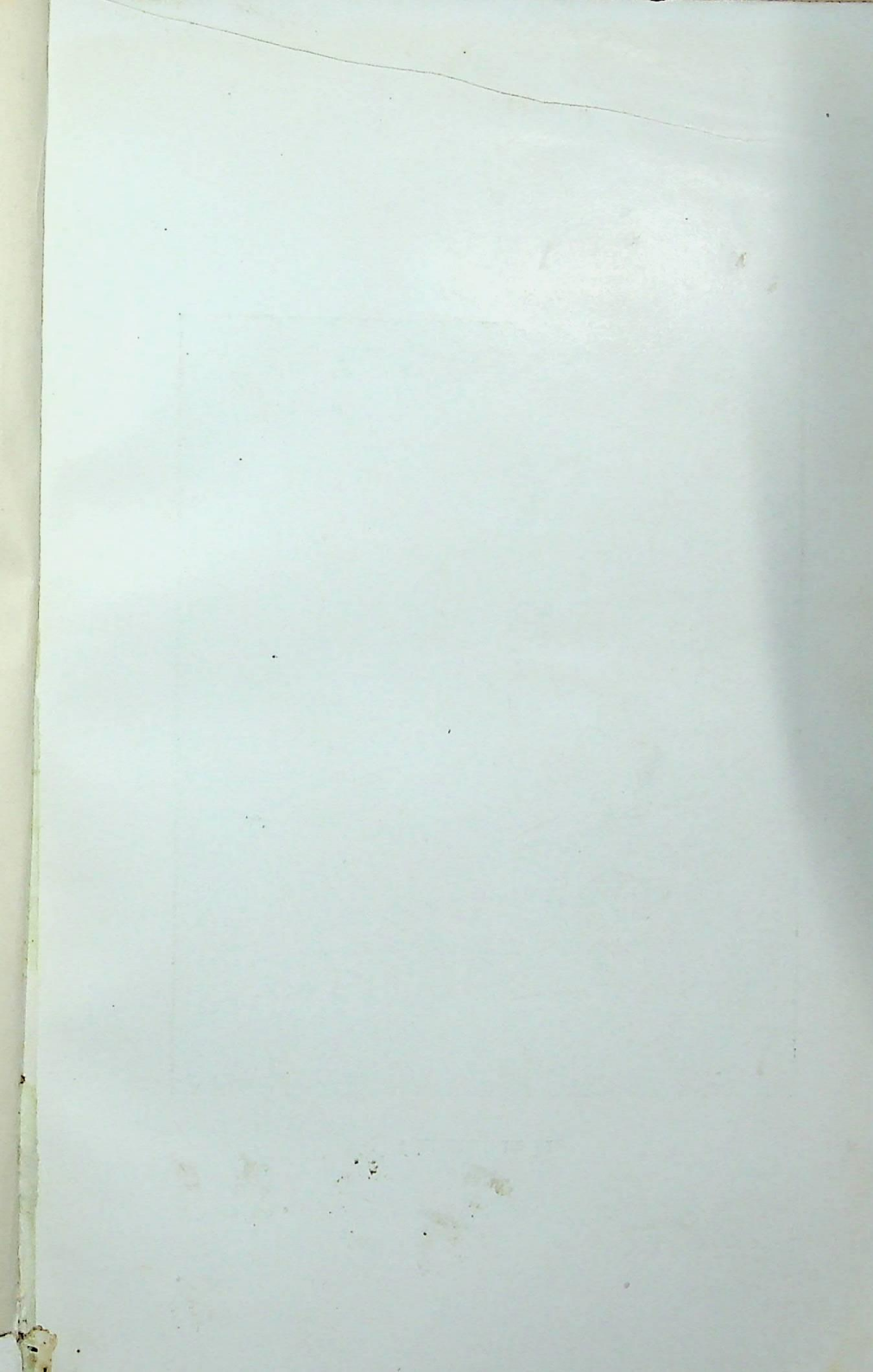
बाबू कार्त्तिकप्रसाद ।

(१६) बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री।

बाबू कार्तिकप्रसाद के पितामह गोविंदप्रसादजी तीर्थाटन की इच्छा से वृंदावन में आए और फिर वे वहीं रहने लगे। वे अरबी फ़ारसी में अच्छी योग्यता रखते थे और हकीमी विद्या में भी निपुण थे। इसलिये भरतपुर के महाराज के कृपापात्र होकर उसी दरबार में हकीम के पद पर नियत होकर रहने लगे। परंतु सन् १८२८ में जब भरतपुर अँगरेज़ सरकार ने विजय कर लिया तो वे कलकत्ते में आकर रहने लगे। यहाँ उन पर सरकार की कृपा रही और वे २००) मासिक पाते रहे। इसी प्रकार उनके पुत्र बलदेवप्रसादजी भी हकीमी विद्या में निपुण हुए और वे भी सरकार के कृपापात्र रहे।

बाबू कार्तिकप्रसाद का जन्म संवत् १९०८ मि० अगहन वदी ७ को कलकत्ते में हुआ था। इनके पिता बलदेवप्रसादजी ने इन्हें यथासाध्य अच्छी शिक्षा देने का प्रबंध किया था परंतु सन् १८७० में जब उनका देहांत हो गया तो इनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी। दुर्भाग्यवश इसी वर्ष इनकी माता का भी परलोकवास हो गया। इसी कारण सांसारिक व्यवहारों का भार सिर पर आ पड़ने के कारण ये आगे शिक्षा न पा सके और न प्राप्त शिक्षा का उचित उपयोग कर सके। उस समय तक इन्होंने अँगरेज़ी में एंट्रेंस परीक्षा तक पढ़ लिया था और संस्कृत के अतिरिक्त वैद्यक विद्या में भी कुछ दख़ल कर लिया था। बँगला भाषा में भी इन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

परंतु अपनी मातृभाषा हिंदी से इन्हें स्वाभाविक अनुराग था। सारसुधानिधि के संपादक पंडित सदानंदजी से हेल मेल होने के कारण इनका इस ओर और भी उत्साह बढ़ा और उन्हीं की सहायता से इन्होंने १४ वर्ष की अवस्था में "जन्मभूमि और अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति" विषय पर एक निबंध हिंदी में लिख कर सर्वसाधारण के संमुख पढ़ा। सन् १८७१ ई० में इन्होंने "प्रेम-विलासिनी" मासिक पत्रिका और "हिंदी-प्रकाश" साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। कलकत्ते में हिंदी के ये पहिले समाचार पत्र थे। इन्होंने हिंदी के "नंदकोष" नामक पद्य कोष को अकारादि क्रम से लिख कर सम्पादित किया और सारस्वत के पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद करके उसका "सारस्वतदीपिका" नाम रक्खा।

पिता का देहांत होने के पश्चात् इन्होंने कई एक व्यापार उठाए परंतु सब में घाटा हुआ। अंत में इन्होंने एक बिसातख़ाने की दूकान खोली सो उसे एक कृतघ्न मित्र ने बिलकुल अपना लिया। इन्हीं सब कारणों से उचाट चित्त होकर इन्होंने कलकत्ता छोड़ कर काशी का रहना पसंद किया। कलकत्ते से आकर इन्होंने कुछ दिन लखनऊ के डाकविभाग में काम किया और कुछ दिन अपने मामा वकील छन्नूलालजी की ज़मींदारी का भी प्रबंध किया। परंतु कुछ काल पश्चात् यह सब छोड़ कर इन्होंने रीवाँ की यात्रा की। रीवाँधिपति महाराज रघुराजसिंहजी इनसे मिल कर अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें कृपापूर्वक अपना मुसाहिब बना कर अपने पास रक्खा।

११ वर्ष रीवाँ में रह कर आप पुनः काशी को चले आए। सन् १८८४ ई० में बलिया ज़िले के बंदोबस्त के मुहकमे में हिंदी

जारी होने का प्रयत्न हो रहा था। अस्तु, यहाँ से बाबू हरिश्चंद्रजी ने आपको प्रतिनिधि बना कर हिंदी का पक्ष समर्थन करने को भेजा। वहाँ से लौटते समय आप काशी न आकर सीधे आसाम को चले गए और विसड़गढ़, कामरूप, सिलहट, कछार, मनीपूर आदि स्थानों में होते हुए शिलाँग में आए। यहाँ इन्होंने पंजाबी शाल वग़ैरह की दूकान खोली, चंदा करके जगन्नाथ का मंदिर बनवाया और रथयात्रा का मेला स्थापित किया, और 'मित्रसमाज' नामक एक सभा स्थापित की। बंबई में जब गोरक्षा-मिमोरियल की बात चली थी तो आपने आसाम से दस हज़ार व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाए थे।

आसाम से लौट कर जब से आप काशी जी में आए तब से फिर कहीं नहीं गए। केवल एक बार काश्मीर की यात्रा की थी। काशी में रह कर भारतजीवन का सम्पादन और उत्तमोत्तम पुस्तकें लिख कर हिंदी-साहित्य की सेवा करते रहे। आपने कोई २० पुस्तकें लिखीं जिनमें से कुछ तो बँगला के अनुवाद हैं। आप कुछ दिन तक काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के उपसभापति भी रहे थे और उसकी उन्नति में सदा दत्तचित्त रहते थे। आपका देहांत तारीख़ ९ जूलाई सन् १९०४ को काशी में हुआ।

---

(१७) पंडित भीमसेन शर्म्मा।

ज़िला फ़रुख़ाबाद में मेरापुर नाम का एक गाँव था। उसी के समीप रामपुर एक बस्ती है। रामपुर किसी क्षत्रिय वंश की राजधानी थी। मेरापुर में उस राजवंश के पुरोहित धृतकौशिक गोत्री ब्राह्मण रहते थे। उनका आस्पद मिश्र था, कालवश उक्त राजधानी के नष्ट होने पर मेरापुर भी उजड़ गया।

उक्त मिश्र वंश में से एक पंडित हरिराम शर्म्मा ज़िला एटा तहसील अलीगंज के लालपुर नाम के गाँव में आ बसे। उनसे छठी पीढ़ी में नेकराम शर्म्मा का जन्म हुआ।

हमारे चरित-नायक पंडित भीमसेन शर्म्मा इन्हीं नेकरामजी के पुत्र हैं। इनका जन्म संवत् १९११ में हुआ। ढाई वर्ष की अवस्था होने पर इनकी माता का परलोकवास हो गया, तब से ये पिता के पास रहने लगे और बोलने की शक्ति होते ही हिसाब सीखने लगे, क्योंकि इनके पिता गणित-विद्या में बड़े निपुण थे।

उस समय बालकों के पढ़ने का कोई उचित प्रबंध नहीं था पर इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो चुका था। इसलिये गाँव के सब लोगों ने मिल कर एक कायस्थ लाला को उर्दू पढ़ाने पर रक्खा। गाँव के सब लड़कों के साथ पंडित भीमसेन भी उर्दू पढ़ने लगे। ये अपनी तीव्र बुद्धि से अपना पाठ बड़ी सावधानी से घोख लेते थे परंतु लालाजी इनसे प्रसन्न होने के बदले अप्रसन्न थे। वे सोचते थे कि यदि इसी तरह सब लड़के पढ़ गए तो हमारी जीविका

पंडित भीमसेन शर्मा ।
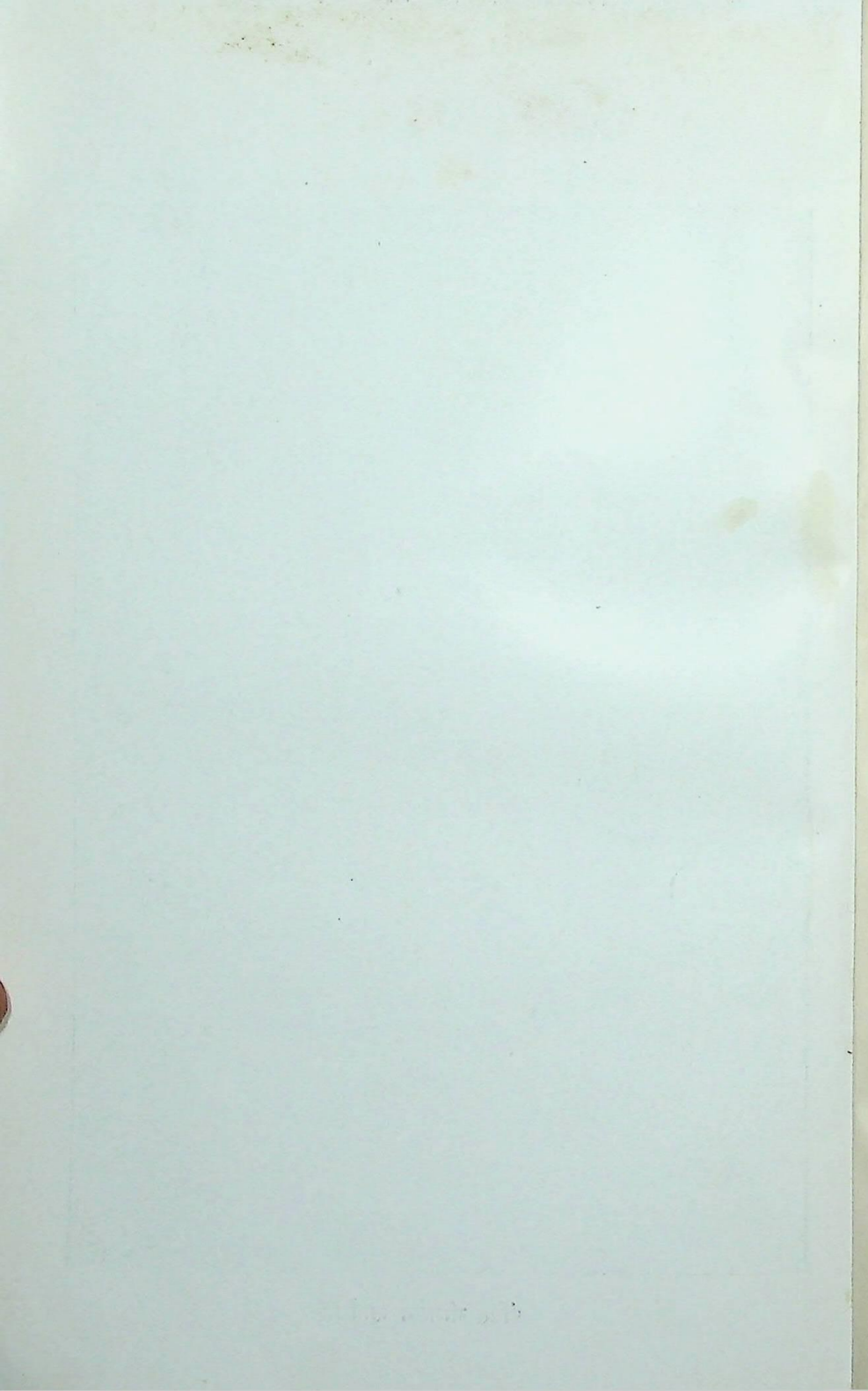
कैसे चलेगी। कुछ दिनों के बाद लालाजी चले गए और सब लड़के अधकचरे रह गए परंतु भीमसेनजी दूसरे गाँव में जाकर पढ़ आते थे। इस तरह से पढ़ने लिखने योग्य उर्दू की योग्यता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने हिंदी का अध्ययन आरंभ किया और इसके पीछे संस्कृत व्याकरण पढ़ना आरंभ किया।

१७ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने घर पर अध्ययन किया परंतु संवत् १९२५—२६ में जब स्वामी दयानंदजी ने फ़र्रुख़ाबाद में संस्कृत-पाठशाला स्थापित की तो ये वहाँ पढ़ने चले गए और अष्टाध्यायी व्याकरण की श्रेणी में भरती हुए। इन्होंने दो वर्ष में संपूर्ण अष्टाध्यायी पढ़ ली और इसके अनंतर व्याकरण महाभाष्य, पिंगलसूत्र, स्वरप्रकरण, चंद्रालोककारिका, अलंकार और माघ काव्य आदि ग्रंथों को एक साथ पढ़ा और एक वर्ष में इन सब में प्रवेश कर लिया। तदनंतर २१ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ और फिर ये काशी में आकर दर्शन शास्त्र पढ़ने लगे।

इस समय स्वामी दयानंदजी भी काशी में थे। पंडित भीमसेन उन्हींके यहाँ लिखा पढ़ी का काम करने लगे। उन्हींके साथ इन्होंने दिल्लीदरबार देखा और दो वर्ष तक पंजाब में पर्य्यटन किया। फिर काशी में रह कर ये दर्शन ग्रंथ पढ़ने लगे। यहाँ बीमार पड़ने के कारण वे घर को चले गए और वहाँ से फिर स्वामीजी के साथ रहने लगे। संवत् १९४० में जब स्वामी दयानंदजी का स्वर्गवास हो गया तब ये वैदिक यंत्रालय प्रयाग में संशोधक के कार्य पर नियत हुए। यहाँ रह कर इन्होंने बहुत सी दर्शन और वैदिक पुस्तकों का भाषानुवाद किया और कई पुस्तकें स्वतन्त्र रचीं। संवत् १९४२ में इन्होंने आर्य्यसिद्धांत नाम का एक मासिक पत्र निकाला और उपनिषदादि कई पुस्तकों पर भाष्य लिखे। कुछ दिनों के बाद

उक्त प्रेस के मैनेजर से बिगाड़ हो जाने के कारण इन्होंने वह नौकरी छोड़ दी और अपना घर का प्रेस कर लिया।

वैदिक यंत्रालय से संबंध छोड़ने के दस बारह वर्ष के बाद कलकत्ते के सेठ माधवप्रसाद खेमका इनके पास गए और इनसे कहा कि हम यज्ञ किया चाहते हैं उसे आप वेद की विधि से कराइए। इन्होंने सेठजी के अनुरोध से जब वेद में यज्ञ की विधि देखी तो उसे प्रायः आर्य्य-समाज के सिद्धांत के बहुत प्रतिकूल पाया। इन्होंने सेठजी से कहा। सेठजी ने कहा कि आर्य्यसमाज से कुछ प्रयोजन नहीं है हम वेद-विधि से यज्ञ किया चाहते हैं। अस्तु, इन्होंने उसी समय से आर्य्यसमाज से अपना संबंध छोड़ दिया और वेद-विधि से यज्ञ कराया। इस पर आर्य्यसमाजी लोग इनसे बहुत कुछ बिगड़े और अखबारों में इनकी बड़ी निंदा छापी। इन्होंने उसका प्रतिवाद किया और 'आर्य्यसमाज' को वेद-विरुद्ध धर्म सिद्ध किया। इन्होंने आगरे के आर्य्यसमाज से श्राद्ध विषय पर शास्त्रार्थ भी किया। इसीके कुछ दिनों बाद ब्राह्मणसर्वस्व नामक मासिक पत्र निकाला। यह पत्र अब भी चलता है।

इस समय पंडित भीमसेनजी इटावा नगर में बैठे भगवद्भजन में समय बिताते हैं और विद्या-व्यसन में रत रहते हैं। एक बार जब आर्य्यसमाज में मांसाहारी दल की प्रबलता हुई तो इन्हें जोधपुर में बुला कर लोगों ने १००) रु० मासिक पर उपदेशक नियत कर के मांस खाने को वेद से सिद्ध कराना चाहा था पर इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। सन् १९१२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में आप "वेद" के अध्यापक नियत हुए हैं और अब तक उस काम में लगे हुए हैं।
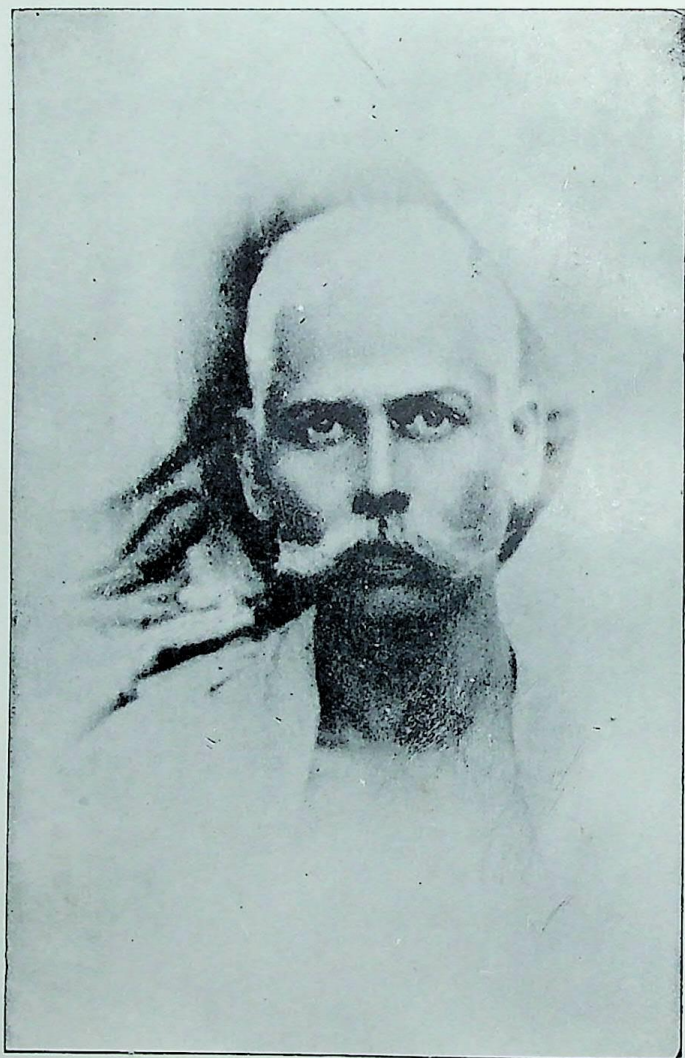
पंडित केशवराम भट्ट ।

(१८) पंडित केशवराम भट्ट ।

पंडित केशवराम भट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज बहुत दिनों से बिहार में रहने लगे थे। यद्यपि इनका आस्पद 'पाठक' था परंतु इधर दक्षिण के ब्राह्मण मात्र को लोग भट्ट कहते हैं इसीसे यह उनकी कुलपरम्परा की उपाधि हो गई। उनके पिता एक धनवान् और प्रतिष्ठित पुरुष थे, वे महाजनी का काम करते थे।

पंडित केशवराम का जन्म आश्विनकृष्ण पंचमी संवत् १९११ में हुआ था। इनके जन्म होने के छः महीने पहिले ही इनके पिता का परलोकवास हो गया था। परंतु इनके बड़े भाई पंडित मदनमोहन भट्ट होशियार थे। उन्होंने घर का काम काज सँभाला और इनकी शिक्षा का प्रबंध किया। इनकी माता स्वयं शिक्षिता और बुद्धिमती थीं, अतएव आरंभ में उन्होंने इनको उचित शिक्षा दी। कुछ बड़े होने पर इन्होंने महाजनी और हिंदी पढ़ी और फिर उर्दू और फ़ारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना आरंभ किया। सन् १८७२ में इन्होंने एँट्रेंस परीक्षा पास की और फिर एफ़० ए० में भी अभ्यास किया परंतु परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके इसलिए इन्होंने पढ़ना ही छोड़ दिया।

पंडित केशवराम जी ने सन् १८७४ में "बिहारबंधु" प्रेस खोला और उसीके साथ बिहारबंधु समाचारपत्र को प्रकाशित करना आरंभ किया। आप किसी कार्यविशेष से कुछ दिन के लिये

कलकत्ते चले गए थे। इसलिये इनके सहपाठी मुंशी हसनअली बिहारबंधु के संपादक हुए और ये उसकी केवल लेखों से सहायता करते रहे। इसी समय बिहार के स्कूलों के सर्किल इन्सपेक्टर की आज्ञानुसार बोधोदय नामक एक बंगला पुस्तक का इन्होंने भाषानुवाद किया और उसका नाम विद्या की नींव रक्खा। यह पुस्तक बहुत दिनों तक बिहार के स्कूलों में जारी रही।

सन् १८७५ ई० में 'बिहारबंधु' का सम्पादन इन्होंने स्वयं अपने हाथ में लिया और इसी वर्ष "बिहारउपकारक सभा" स्थापित की।

इन दिनों बिहार में तथा अन्यत्र भी नाटकों की अच्छी चर्चा थी। अस्तु कई एक अंतरंग मित्रों की प्रेरणा से आपने "शमशाद सौसन" नाम का पहला नाटक लिखा। इसका अभिनय भी हुआ जिससे दर्शकमंडली अत्यन्त प्रसन्न हुई और इनका भी उत्साह बढ़ा। अस्तु इन्होंने दूसरा नाटक "सज्जादसंबुल" लिखा।

सन् १८७७ ई० में आप दरभंगा के स्कूलों के आफिशियेटिंग डिप्टी इन्सपेक्टर नियत हुए, फिर अगले दिसंबर में शाहाबाद ज़िले के डिप्टी इंसपेक्टर हुए। इस पद पर इन्होंने बड़ी योग्यता और मुस्तैदी से काम किया और सन् १८७९ ई० में आप नार्मल स्कूल के आफ़िशियेटिंग हेड मास्टर हुए।

कुछ दिनों के पश्चात् आप स्थानीय बिहार हाई इंगलिश स्कूल के हेड पंडित के पद पर नियत हुए और १३ वर्ष तक अर्थात् अपने अंतिम समय तक उसी पद पर काम करते रहे।

पंडित केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे लेखकों में से थे। यद्यपि इन्होंने पुस्तकें बहुत नहीं लिखी हैं, पँर जो लिखी हैं सब उपयोगी हैं। आप की लिखी पुस्तकें ये हैं—

(१) विद्या की नींव (२) भारत-वर्ष का इतिहास बँगला भाषा से अनुवादित (३) शमशाद सौसन नाटक (४) सज्जाद संबुल नाटक (५) हिंदी का व्याकरण (६) रासेलस (अनुवाद)।

इनके बड़े भाई पंडित मदनमोहन भट्ट भी अच्छे लेखक थे, उन्होंने हिंदी महाभारत लिखा था और इसके सिवाय कई छोटी छोटी पुस्तकें भी लिखी थीं जिन सब में से लोकनीति एक प्रशंसनीय पुस्तक है।

पंडित केशवराम भट्ट एक सुचरित्र पुरुष थे। ये बड़े शुद्धचित्त, शांतस्वभाव, स्पष्टवक्ता, मिलनसार और निरभिमानी थे। इनका देहांत हुए अभी थोड़े ही वर्ष हुए हैं।

---

(१६) उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी।

पंडित बदरीनारायण चौधरी भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण खोरिया उपाध्याय हैं। इनके दादा पंडित शीतलप्रसाद उपाध्याय मिर्ज़ापुर के एक प्रतिष्ठित रईस, महाजन, व्यापारी, और ज़मीदार थे। इन्होंने अपने ही बाहुबल से बहुत कुछ धन, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके एकमात्र पुत्र पंडित गुरुचरणलाल उपाध्याय हुए जो अपने पैत्रिक तथा सांसारिक कार्यों का भली भाँति संपादन करते हुए ब्राह्मण-गुणों में आदर्श हुए। ये अब तक वर्तमान हैं। इन्होंने बहुत कुछ द्रव्य व्यय करके कई संस्कृत-पाठशालाएँ खोली हैं जिनमें विद्यार्थियों को भोजन आच्छादन आदि का भी उपयुक्त प्रबंध है। अब ये महाशय त्रिवेणी तट पर भूंसी के निकट वाले अपने ग्राम में रह कर योग और ज्ञान के अर्जन में अपना समय व्यतीत करते हैं।

इनके ज्येष्ठ पुत्र हमारे चरित-नायक पंडित बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत् १९१२ भाद्रपद कृष्ण ६ को हुआ। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व इनकी सुशीला और शिक्षिता माता ने स्वयं इन्हें हिंदी पढ़ाना आरंभ कर दिया था तो भी इन्हें गुरु जी के यहाँ कुछ दिनों तक हिंदी पढ़नी पड़ी थी। संवत् १९१७ में इन्हें फ़ारसी की शिक्षा दी जाने लगी। फिर अँगरेज़ी प्रारंभ कराई गई, पर कई कारणों से पढ़ाई का सिलसिला ठीक न चल सका। कुछ दिनों तक गोंडे में रह कर इन्होंने विद्याध्ययन किया। यहाँ अवधेश महाराज सर प्रताप-नारायणसिंह, लाल त्रिलोकीनाथसिंह और राजा उदयनारायण-

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी।
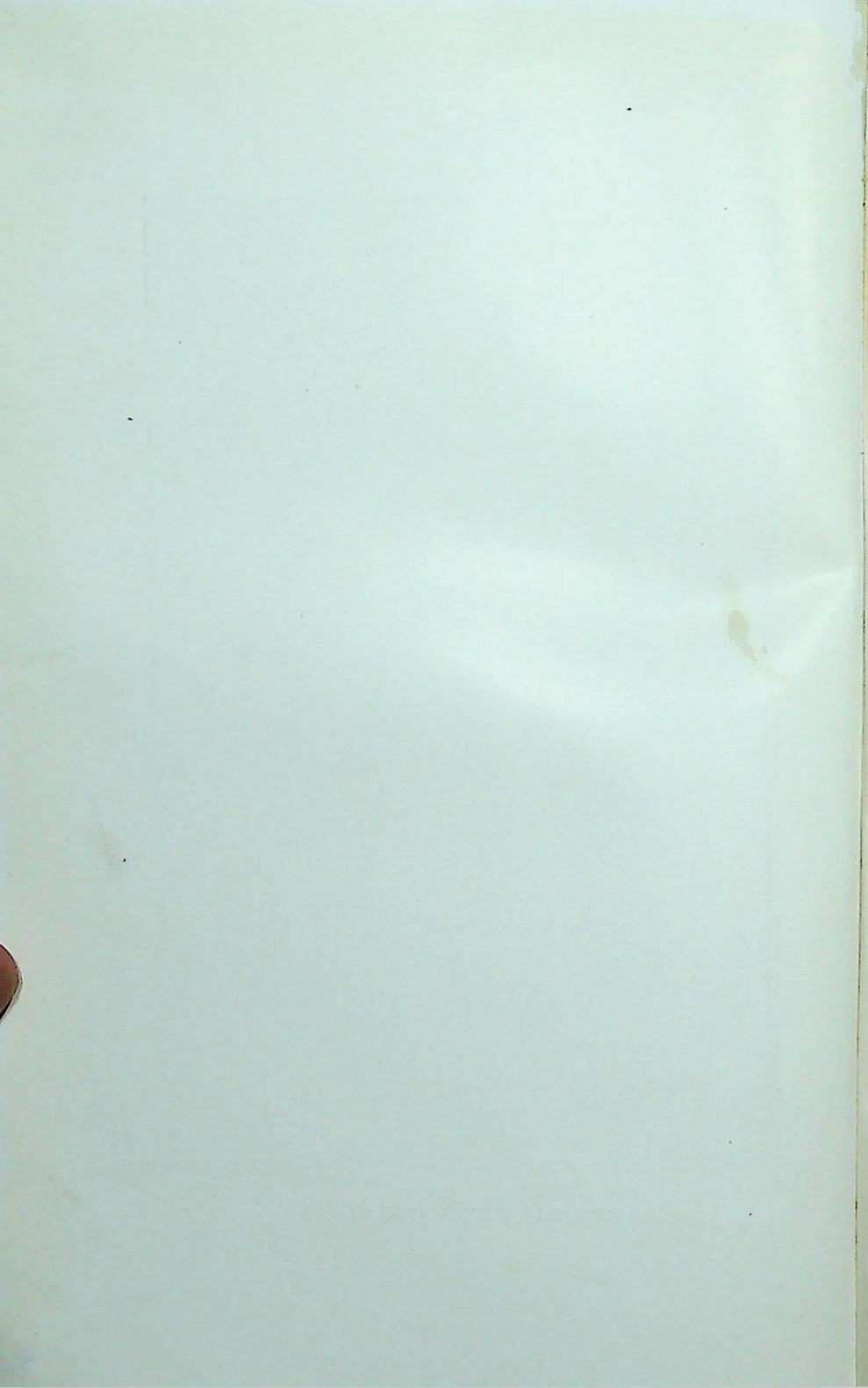
सिंह आदि का साथ हो जाने से इन्हें अश्वारोहण, गजसंचालन, लक्ष्यवेध और मृगया से अधिक अनुराग हो गया और यही मानों इनके बाल्यावस्था में क्रीड़ा की सामग्री थी। ये निज सहचरों के संग प्राय: घुड़दौड़ करते और शिकार खेलते थे।

संवत् १९२४ में ये वहाँ से फ़ैज़ाबाद चले आए और वहाँ के ज़िला स्कूल में पढ़ने लगे। उसी वर्ष इनका विवाह भी बड़ी धूम धाम से ज़िला जौनपुर के समसा ग्राम में हुआ। संवत् १९२५ में इनके पितामह का स्वर्गवास होने से इन्हें मिर्ज़ापुर लौट कर पुनः ज़िला स्कूल में पढ़ना पड़ा और संवत् १९२७ के आरंभ में इन्हें स्कूल का पढ़ना छोड़ स्वतंत्र मास्टर से पढ़ने और घर के कार्यों की देख भाल में लगना पड़ा। फिर इनके पिता ने इन्हें संस्कृत पढ़ाना आरंभ किया क्योंकि वे हिंदी, फ़ारसी के अतिरिक्त संस्कृत में अच्छे पंडित और उसके विशेष अनुरागी थे। उन्हें प्राय: अन्य नगरों और विदेशों में भ्रमण करना पड़ता था, इसीसे अपने पारिषद् वर्गों में से पंडित रामानंद पाठक को जो एक अच्छे विद्वान् थे, इन्हें पढ़ाने के लिए नियुक्त किया। इन पंडित जी के कारण इन्हें कविता से अनुराग हुआ, और यही इनके मानों कविता के भी गुरु थे। किंतु घर के कामों में पड़ने से इनकी प्रकृति में भी परिवर्तन हो चला। क्रमशः आनंद-विनोद और मनबहलाव की सामग्रियाँ प्रस्तुत होने लगीं पर साथ ही साहित्य की चर्चा भी रही। संगीत पर इनका अनुराग सब से अधिक प्रबल हुआ और ताल सुर की परख बेहद बढ़ चली। निदान अब चित्त दूसरी ही ओर लग चला तथा भाँति भाँति के कार्य्यों के संग दूसरे दूसरे नगरों के परिभ्रमण में भी न्यूनता न रही। संवत् १९२८ में ये प्रथम वार कलकत्ते गए और वहाँ से लौटने पर बरसों बीमार पड़े रहे, जिसमें इन्हें साहित्य-संबंधी विशेषत: व्रजभाषा के बहुत से प्राचीन ग्रंथों को देखने और सुनने

का अवसर मिला। संवत् १९२९ में इनसे पंडित इंद्रनारायण शंगलू से मित्रता हुई जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि, कार्य्यपटु, नवीन विचार के तथा देशहित करनेवाले मनुष्यों में से थे। इनके द्वारा इन्हें सभा समाज और समाचारपत्रों से अनुराग तथा उर्दू-शायरी में उत्साह बढ़ा। इन्हीं के द्वारा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी से चौधरी साहिब की जान पहिचान हुई जो क्रमशः मैत्री में परिणत हो गई। यह मैत्री उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई और अंत तक उसका पूरा निर्वाह हुआ। संवत् १९३० में इन्होंने "सद्धर्मसभा" और १९३१ में "रसिकसमाज" तथा यों ही क्रमशः और कई सभाएं स्थापित कीं। १९३२ में इन्होंने कई कविताएं लिखीं और १९३३ में इनके कई लेख कविवचनसुधा में छपे। बस अब तो उत्तरोत्तर कई कविताएं लिखी गईं। संवत् १९३८ में आनंदकादंबिनी की प्रथम माला प्रकाशित हुई और १९४९ से "नागरीनीरद" साप्ताहिक समाचारपत्र का सम्पादन आरंभ हुआ। इन दोनों पत्र और पत्रिकाओं में अनेक गद्य पद्यात्मक लेख ग्रंथ इनके छपे जो कि अद्यापि स्वतंत्र रूप से प्रकाशित न हो सके। इनकी अनेक कविताएं और सद्ग्रन्थ वरं यों कहना चाहिए कि इनकी कविता का उत्तमांश अभी तक इन पत्र और पत्रिकाओं तक भी न पहुँच सका। इनकी केवल वही कविता प्रकाशित हो सकी जो समय के अनुरोध से अत्यावश्यक जान पड़ी और चट पट निकल गई जैसे "भारत-सौभाग्य नाटक", "हार्दिक हर्षादर्श" "भारतबधाई", "आर्य्याभिनंदन" इत्यादि अथवा जो बहुत आग्रह की माँग के कारण लिखी गईं यथा "वर्षाबिंदु" वा "कजलीकादंबिनी"। इसका कारण यह था कि इनकी कविता का उद्देश्य प्रायः निज मन का प्रसाद मात्र था इसी से ये उसके प्रचार वा प्रकाशित करने के विशेष प्रयासी न हुए और न इसके द्वारा धन, मान या ख्याति के अभिलाषी हुए। इसीसे स्वास्थ्य

तथा प्रसन्नता के समय जब जिस विषय पर चित्त आया वह लिखा और जहाँ से उचटा छोड़ दिया। लिखने पढ़ने के विषय में बारंबार इनका बढ़ता हुआ उत्साह घर के लोगों ने ऐसा भंग किया कि ये प्राय: इस अंश में उत्साह-हीन से हो गये। निस्संदेह इनकी निरन्तर पारिवारिक परतंत्रता इनके विद्या-वैभव की बड़ी बाधक हुई। तिस पर भी जो कुछ अब तक प्रकाशित हुआ है वह इनकी कुशाग्रबुद्धि और कविताशक्ति का पूर्ण सूचक है। कविता में ये अपना उपनाम प्रेमघन (अभ्र) रखते हैं। सन् १९१२ के अंत में कलकत्ते में हिंदीसाहित्य-सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ था। आपको उसके सभापति होने का गौरव प्राप्त हुआ था।

---

(२०) पंडित प्रतापनारायण मिश्र ।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण बैजेगांव के मिश्र थे। यह बैजेगांव अवध के ज़िले में शहर उन्नाव से थोड़ी दूर पर है। पंडित प्रतापनारायण के पिता का नाम संकटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का रामसेवक था। इनके पिता संकटाप्रसाद १४ वर्ष की उम्र में कानपुर में आबसे थे। वे एक अच्छे ज्योतिषी थे। इसलिए धीरे धीरे उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी होती गई और कुछ दिनों में उन्होंने रियासत भी पैदा कर ली।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म आश्विन कृष्ण ९ संवत् १९१३ (सन् १८५६ ई०) में हुआ था। इनके पिता ने इन्हें अपनी तरह ज्योतिर्विद् बनाना चाहा परंतु इनकी उस ओर रुचि न थी, इसलिए उन्होंने लाचार होकर इन्हें अँगरेज़ी मदरसे में पढ़ने बैठाया। पर थोड़े ही दिनों में इन्होंने वह मदरसा भी छोड़ दिया और एक पादरियों के मदरसे (मिशन स्कूल) में भरती हुए। परंतु इनका पढ़ने लिखने में मन नहीं लगता था। इसलिए अंगरेज़ी भाषा में कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके सन् १८७५ ई० के लगभग इन्होंने वह स्कूल भी छोड़ दिया। इसके कुछ दिनों बाद इनके पिता का देहांत हो गया और उसी दिन से इनके विद्याध्ययन की भी इतिश्री हुई। अँगरेज़ी के साथ में इनकी दूसरी भाषा हिंदी थी, पर इन्होंने उर्दू में भी अच्छा अभ्यास कर लिया था, साथ ही इसके कुछ कुछ संस्कृत और फ़ारसी भी जानते थे।
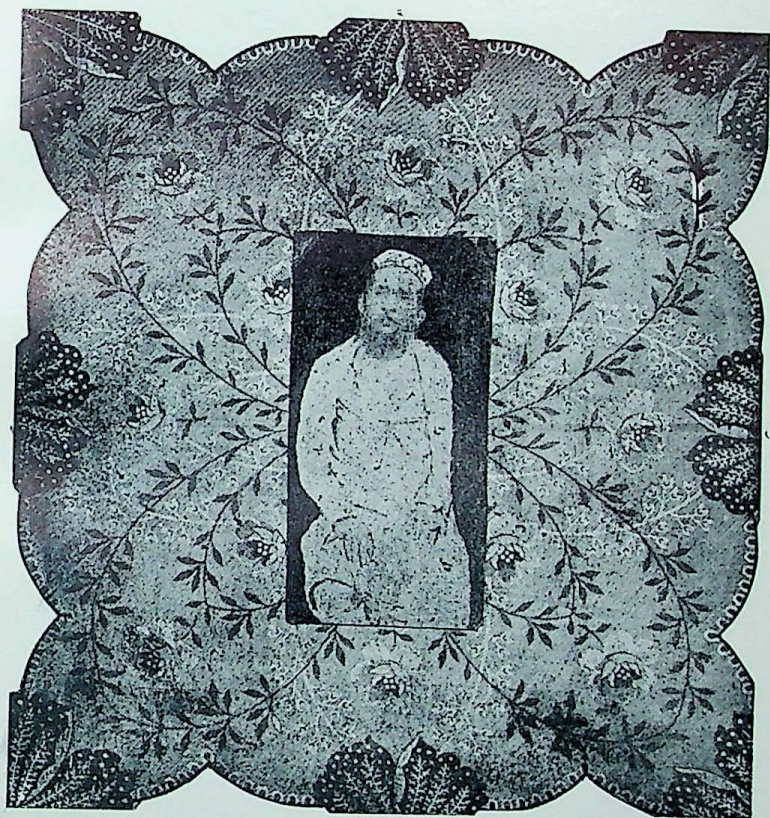
पंडित प्रतापनारायण मिश्र ।
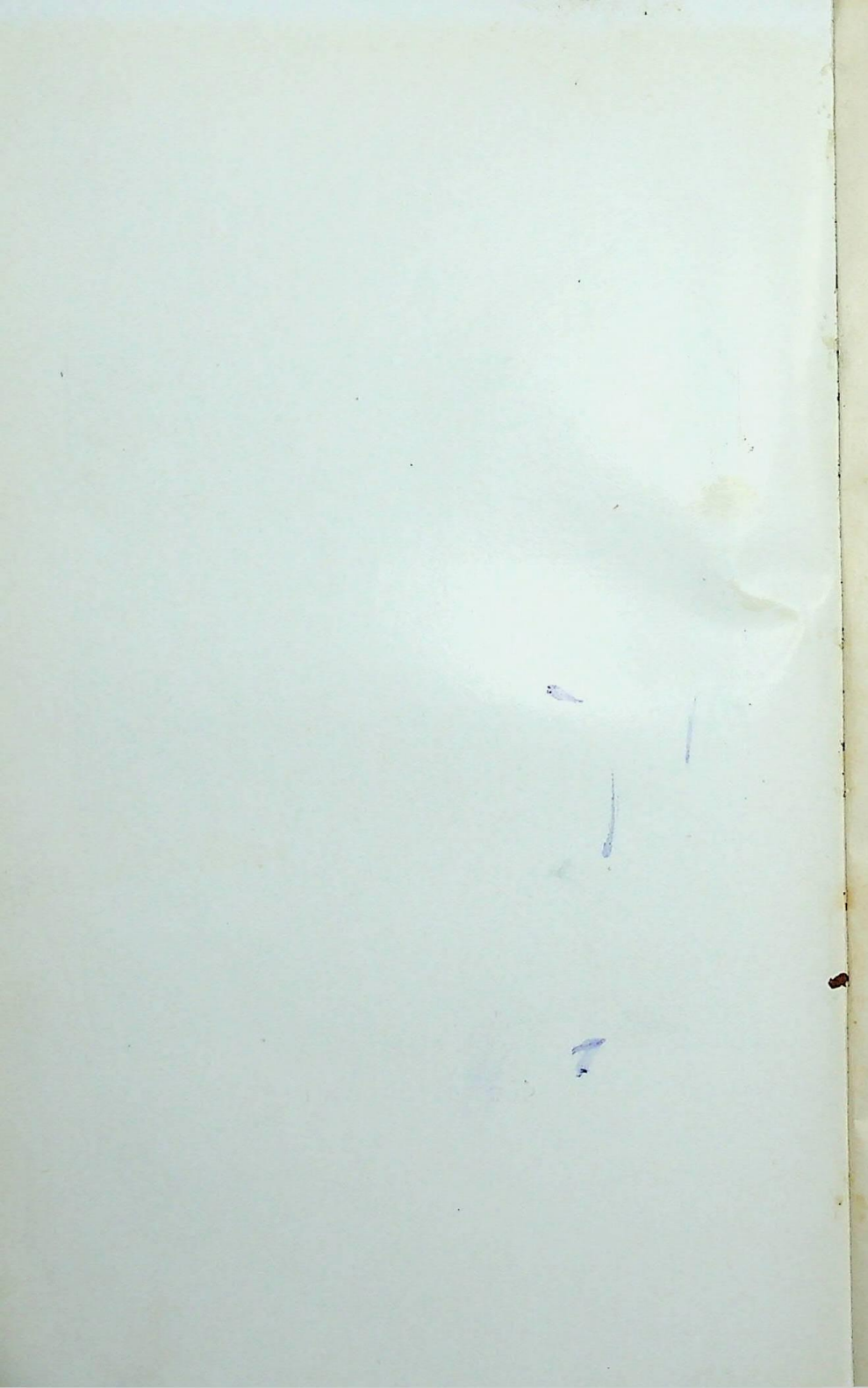
पंडित प्रतापनारायण मिश्र के हृदय में काव्य का बीज उसी समय में जम चुका था जब कि ये छात्रावस्था में थे। उस समय बाबू हरिश्चंद्र का कवि-वचनसुधा ख़ूब ज़ोर पर था। उसके गद्य पद्य लेख बड़े ही प्रभावोत्पादक और मनोरंजक होते थे। पंडित प्रतापनारायण उसे बड़े प्रेम से पढ़ते थे। उसी समय कानपुर में लावनी की बड़ी चर्चा थी। प्रसिद्ध लावनीबाज़ बनारसीदास वहाँ महीनों रहते थे। कानपुर में उसी समय पंडित लालताप्रसाद त्रिवेदी उपनाम ललित एक अच्छे कवि हो गये हैं। अस्तु, पंडित प्रतापनारायण मिश्र को लावनी सुनने का चस्का लग गया। जहां लावनी का दंगल होता वहाँ ये अवश्य जाते और समय समय पर "ललित कवि" के पास भी आते जाते। परिणाम यह हुआ कि भृंगी के कीट की तरह उक्त कवि महाशय और लावनी बाज़ों की आशु कविता सुनते सुनते ये स्वयं एक अच्छे कवि हो गए। इन्होंने ललित कवि से छंदः शास्त्र के नियम भी पढ़े और उन्हींको अपना गुरु मान कर कविता करने लगे।

कहा जा चुका है कि हिंदी अख़बार पढ़ने का शौक़ इन्हें लड़कपन से ही लग गया था और यही कारण है कि ये केवल समस्या-पूर्ति करने वाले कवि न होकर एक सच्चे साहित्य-सेवी हुए। अपने दो एक मित्रों की सहायता से इन्होंने १५ मार्च १८८३ से "ब्राह्मण" नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ कर दिया। ब्राह्मण के लेख प्रायः हास्यरसमय व्यंग्यपूर्ण परंतु शिक्षाप्रद होते थे। इनकी हिंदी ख़ूब महाविरेदार होती थी। ये अपने लेखों में कहावतें और चलतू चुटकलों का प्रयोग अधिक करते थे, इसीसे इनके मिसरे चुटीले होते थे, ये फ़ारसी और संस्कृत में भी कविता करते थे और वह कविता भी इनकी ऐसी ही सरल रसीली और प्रभावोत्पादक होती थी जैसी कि हिंदी की।

सन् १८८९ ई० में पंडित प्रतापनारायण कालाकाँकर गए और वहाँ "हिंदी हिंदोस्थान" के सहकारी संपादक नियत हुए, परंतु स्वच्छंद स्वभाव होने के कारण वहाँ ये बहुत दिनों तक न रह सके। मिस्टर ब्रैडला के विलायत से हिंदुस्तान में आने पर इन्होंने ब्रैडला-स्वागत-शीर्षक एक कविता रची थी। उसकी बड़ी तारीफ़ हुई। यहाँ क्या विलायत तक में इनका नाम हो गया। वे हिंदी भाषा तथा देवनागरी-लिपि के बड़े पक्षपाती थे। यदि इसके विरुद्ध कोई ज़रा भी चूँ करता तो आप उसके विपक्ष में ब्राह्मण के कालम के कालम लिख मारते थे। आप बाबू हरिश्चंद्र जी के बड़े भक्त थे। इन्होंने कुल १२ पुस्तकों का भाषानुवाद किया और २० पुस्तकें लिखीं। इनकी अनुवाद की या लिखी हुई सब पुस्तकें प्रायः मनोरंजक और शिक्षापूर्ण हैं। पंडित प्रतापनारायण का रंग गोरा और शरीर दुबला था। इनकी रहन सहन साधारण थी पर वे स्वभाव के स्वच्छंद असहनशील और अपने मन के मौजी पुरुष थे। चिट्ठियों के उत्तर देने में आलसी थे। शरीर से प्रायः रोगी रहा करते थे। इन्हें नाट्य-कौशल से विशेष प्रेम था और ये स्वयं उसमें निपुण थे। इनके सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचार स्वतंत्र थे। और ये कांग्रेस को अच्छा समझते थे। मिती आषाढ़ शुदि ४ संवत् १९५१ को इनकी मृत्यु हुई।

---

(२१) डाक्टर सर जी० ए० ग्रियर्सन, के० सी० आई० ई० ।

डाक्टर ग्रियर्सन के० सी० आई० ई० आयरलेंड के डबलिन परगने में राथफर्न हम हाउस नामक घराने के नायक श्रीयुत जार्ज अब्रहम ग्रियर्सन के पुत्र हैं। आपका जन्म ता० ७ जनवरी सन् १८५७ ई० में हुआ था। पहिले तो सुयोग्य और विद्वान् शिक्षकों द्वारा इनको घर पर ही उचित शिक्षा दी गई पर जब १७ वर्ष की अवस्था हो गई तब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये आप डबलिन नगर के ट्रिनिटी कालेज में बैठाए गए। यहाँ से इन्होंने बी० ए० पास किया, फिर रावर्ट एटकिंसन से संस्कृत सीखी और मीर औलादअली के पास हिंदुस्तानी भाषा पढ़ने लगे। संस्कृत और हिंदुस्तानी भाषा में इन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त की और उसके लिये युनिवर्सिटी से पुरस्कार पाया।

सन् १८७१ में आपने हिंदुस्तान की सिविल-सर्विस परीक्षा पास की और दो वर्ष बाद हिंदुस्तान में आकर बंगाल के जैसोर स्थान में नियत हुए परंतु शीघ्रही आपकी बदली अकाल के मुहकमे में हो गई और आप विहार प्रांत की दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा की प्राणरक्षा के लिये भेजे गए। यहाँ आकर जब आपने देखा कि तिरहुत प्रांत के लोग तिरहुती भाषा के सिवाय दूसरी बोली जानते ही नहीं तब इनका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि विलायत से जो केवल हिंदी और बंगला में परीक्षा पास करके इस सुविस्तृत देश का शासन करने आते हैं वे प्रजा का दुःख सुख कदापि नहीं समझ सकते, इसलिये इस भाषा का व्याकरण और कोष तैयार होना अत्यंत आवश्यक है।

अकाल शांत होने पर इन्होंने हबड़ा, मुर्शिदाबाद, रंगपुर आदि कई ज़िलों में बड़ी योग्यता से काम किया। इसी समय आप बंगाल एशियाटिक-सोसायटी में सम्मिलित हुए और इन्होंने रंगपुर की विचित्र भाषा का व्याकरण बनाया। उसके नमूने भी प्रकाशित किए। सन् १८७७ में आप दर्भंगा के मधुवनी स्थान में सबडिविज़नल आफ़िसर होकर आए। यहाँ आप तीन वर्ष रहे और इसी अंतर में आपने कई एक देशी पंडितों की सहायता से मिथिला भाषा का एक सांगोंपांग व्याकरण बना डाला। यहाँ पर जो आस पास के पंडित या भजनी लोग आपसे मिलने आते उन्हें आप २) रु० और धोती जोड़ा बिदाई में देते थे।

शरीर की अस्वस्थता के कारण आप सन् १८८० में विलायत चले गए परंतु स्वास्थ्य ठीक हो जाने पर व्याह करके पत्नी सहित उसी साल फिर वापस चले आए। इस बार सरकार ने इन्हें कैथी भाषा के टाइप ढलवाने पर नियत किया। इस कार्य में आपने बड़ी योग्यता दिखलाई। कैथी भाषा के अक्षर जो महाजनी की भाँति थे उन्हें सर्व-गुण-आगरी नागरी की नाईं सर्वांग सुंदर बना दिया। इसके बाद आप पटना के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट नियत हुए। यहाँ रहकर आपने बिहारी-कृषक-जीवन नाम की एक पुस्तक रची। और बिहारी की बोलियों का एक व्याकरण भी लिखा। यह सात भागों में है। इसे बंगाल गवर्नमेंट ने प्रकाशित कराया है। इस रचना से आपका बड़ा नाम हुआ।

सन् १८८५ में आप छुट्टी लेकर जर्मनी चले गए। यहाँ आप कई बड़ी बड़ी सभाओं में सम्मिलित हुए और आपने भारतवर्षीय साहित्य की अनोखी बातों पर एक निबंध पढ़ा। सन् १८८६ ई० में आष्ट्रिया में पूर्वी भाषाओं के संबंध में एक सभा होने वाली थी।

अस्तु, आप भारत सरकार के प्रतिनिधि होकर उसमें भी सम्मिलित हुए। सन् १८८७ में छुट्टी से लौट आने पर आप गया ज़िले के कलेक्टर और मजिस्ट्रेट नियत हुए। यहाँ भी आपने गया ज़िले का संक्षिप्त विवरण लिख डाला। इसी समय आपने हार्नली साहिब के साथ विहारी भाषा का कोश बनाना आरंभ किया था परंतु यह पूरा न हो सका। आपने पियदसी अर्थात् अशोक के शिला-लेखों पर एक निबंध भी लिखा था।

सन् १८९२ में आपने आप ही अपनी बदली गया से हवड़े को करा ली और वहाँ सन् १८९६ तक रहे। वहाँ पर आपने बिहारी-सतसई, पद्मावती, भाषाभूषण और तुलसीकृत रामायण आदि हिंदी-साहित्य की पुस्तकों का सम्पादन या भाषानुवाद किया और पंडित बालमुकुंद काश्मीरी की सहायता से सरकार के लिये भारत की भाषाओं पर एक निबंध लिखा। सन् १८९६ में आप बिहार में अफ़ीमविभाग के एजेंट नियत हुए और सन् १८९८ ई० में भाषा-संबंधी जाँच के काम पर नियत होकर शिमला गए और कुछ काल पीछे वहाँ से सीधे विलायत को चले गए। तब से अब तक आप वहीं हैं। सिविल सर्विस से आपने इस्तीफ़ा दे दिया है पर अभी आप भाषा-संबंधी खोज का काम कर रहे हैं।

डाक्टर साहेब बड़े ही सज्जन और सच्चरित्र पुरुष हैं। आपकी विद्वत्ता पर रीझ कर अनेक सभाओं ने आपको सम्मानित किया है और भारत गवर्नमेंट ने भी के० सी० आई० ई० की पदवी से भूषित किया है। आपका हिंदी से बड़ा प्रेम है और उसकी सहायता में आप सदा तत्पर रहते हैं।

---

(२२) ठाकुर जगमोहनसिंह ।

ठाकुर जगमोहनसिंह के पूर्वजों का संवंध जयपुर राजघराने से था। ये लोग इक्ष्वाकुवंशीय जोगावत कछवाहे राजपूत हैं। आमेर के राजा कुंतल देव के मँझले भाई आनलसिंह के पाँच पुत्र हुए। इनके पुत्र बालोजी गाजी के थाण में रहते थे। बालोजी के पुत्र खंडेराय के आठ पुत्र हुए जिनमें जेष्ठ पुत्र भीमसिंह आपस की अनबन के कारण घर छोड़ पन्ना में आ बसे। इनके पुत्र वेणीसिंह काल पाकर पन्ना के राजमंत्री नियत हुए। एक युद्ध में ये मारे गए। तब पन्नानरेश ने इनके पुत्र गजसिंह को "राजधरबहादुर" की पदवी दी और मैहर का इलाक़ा पुरस्कार में रहने के लिये दिया। राजकाज में फँसे रहने के कारण इन्होंने अपने मँझले भाई ठाकुर दुर्जनसिंह को मैहर रियासत का सब प्रबंध सौंप दिया। बड़े भाई के मरने पर ठाकुर दुर्जनसिंह रियासत के मालिक हुए। इनके दो पुत्र थे। एक विष्णुसिंह और दूसरे प्रयागदाससिंह। भाइयों में अनबन होने पर राज्य का बटवारा हो गया। विष्णुसिंह मैहर में रहे और प्रयागदाससिंह ने दक्षिण भाग में विजयराघवगढ़ बसा कर उसे अपनी राजधानी नियत किया। इनके पुत्र ठाकुर सरयूसिंह जी हुए। जब पिता मरे तो इनकी अवस्था ५ बरस की थी। अतएव राज्य का प्रबंध गवर्नमेंट ने अपने हाथ में ले लिया। इसके १२ वर्ष पीछे सन् ५७ का बलवा हुआ। इस समय ठाकुर सरयूसिंह १७ वर्ष के थे। कुछ लोगों के बहकाने में आकर ये ब्रिटिश गवर्नमेंट के विरुद्ध खड़े हो गए। परिणाम यह हुआ कि राज्य ज़ब्त हो गया। इस समय इनके पुत्र ठाकुर जगमोहनसिंह की अवस्था केवल छः

ठाकुर जगमोहनसिंह ।
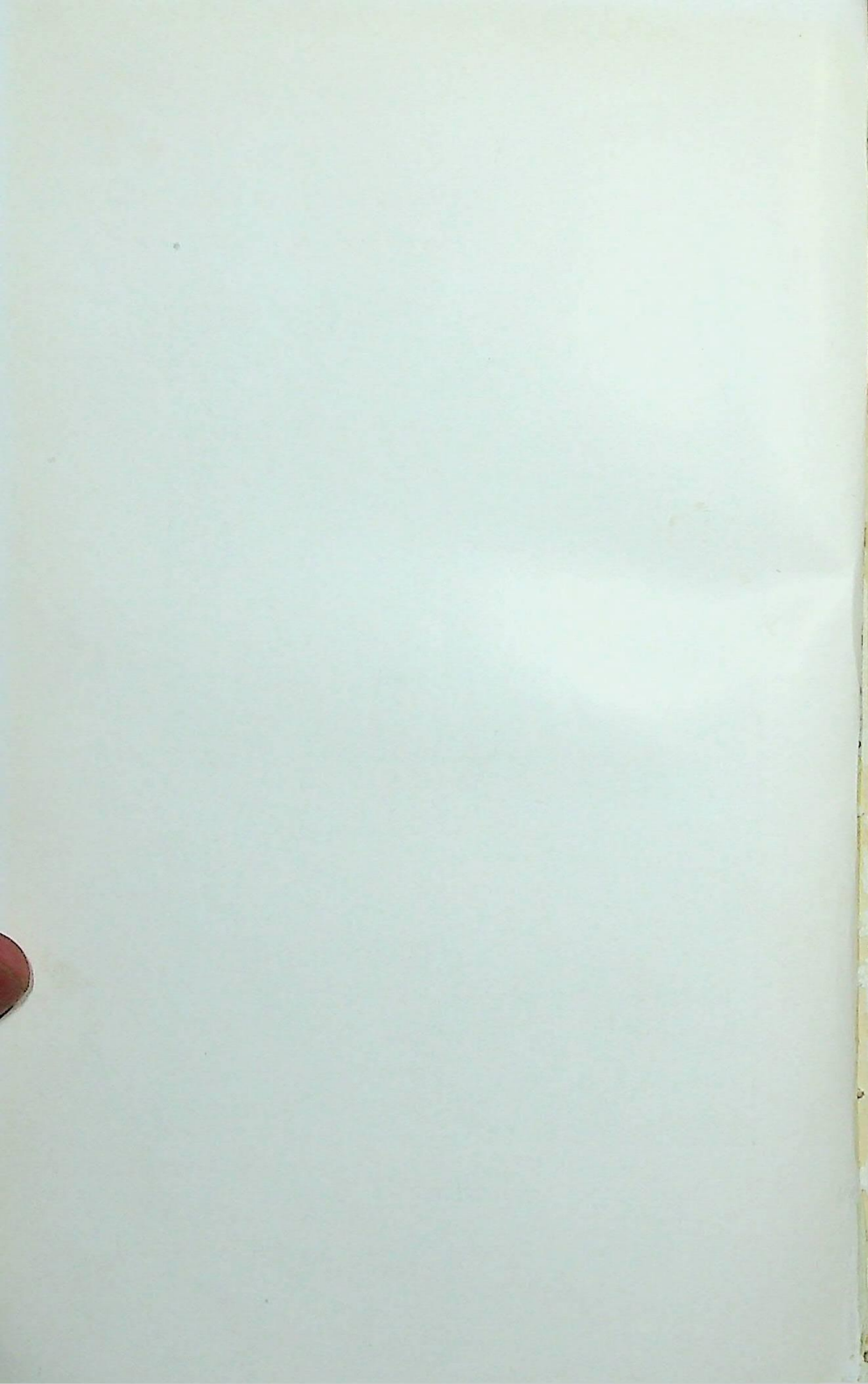
महीने की थी। (जन्म सं० १९१४ श्रावण शुक्ला १४) सन् १८६६ में ठाकुर जगमोहनसिंह बनारस में पढ़ने के लिये भेजे गए। यहाँ इन्होंने अँगरेज़ी, संस्कृत, हिंदी, बँगला, उर्दू भाषाएं सीखीं और उनमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने कालिदास के कई छोटे छोटे काव्यों का हिंदी छंदोबद्ध अनुवाद किया। काशी में इनसे भारतेंदु हरिश्चंद्र जी से बहुत स्नेह हो गया। इनका समय यहाँ पढ़ने और सत्संग में बीतता था। यहाँ से पढ़कर सन् १८८० ई० में ये धमतरी (रायगढ़ म० प्र०) में तहसीलदार नियत हुए और दो ही वर्ष में अपनी योग्यता के कारण ये एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर हो गए। विद्या का इन्हें पूरा व्यसन था। सरकारी काम करने के अनंतर जो समय बचता उसे ये लिखने पढ़ने में बिताते। इसी अवस्था में श्यामास्वप्न आदि ग्रंथ लिखे गए। इसी सेवा-वृत्ति में इन्हें प्रमेह रोग हो गया। डाक्टरों ने जलवायु बदलने का परामर्श दिया। निदान छः महीनों तक ये भिन्न भिन्न स्थानों में घूमते रहे। रोग कुछ कम हुआ पर जड़ से न गया। परिभ्रमण के अनंतर घर लौटने पर कूचविहार स्टेट कौंसिल के ये मंत्री नियत हुए। महाराज कूचविहार काशी में इनके सहपाठी थे। दो वर्ष तक इन्होंने यहाँ बड़ी योग्यता से कार्य्य किया पर रोग ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा। अंत में हार कर नौकरी छोड़ अपने देश को लौटना पड़ा। अनेक उद्योग किए गए पर रोग अच्छा न हुआ। सन् १८९९ के मार्च महीने में एक पुत्र और एक कन्या छोड़ आप परधामगामी हुए।

इनके बनाए ग्रंथ ये हैं—श्यामास्वप्न, श्यामासरोजनी, प्रेमसम्पत्तिलता, मेघदूत, ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, प्रेमहज़ारा, सज्जनाष्टक, प्रलय, ज्ञानप्रदीपिका, सांख्य (कपिल) सूत्रों की टीका,

वेदांत सूत्रों (बादरायण) पर टिप्पणी, हंसदूत, बानीवार्ड विलाप । इनमें से कुछ ग्रंथ अमुद्रित और कुछ अपूर्ण हैं ।

ठाकुर साहिब की संस्कृत और भाषा-योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी । जिन्होंने इनका श्यामास्वप्न या मेघदूत पढ़ा होगा उन्हें इसका परिचय मिल गया होगा । इनका स्नेह अनेक अच्छे अच्छे राजा महाराजों से था । इनका स्वभाव उदार, गुणग्राही और मिलनसार था ।

लाला सीताराम, बी० ए० ।

(२३) लाला सीताराम, बी० ए०।

लाला सीताराम जाति के श्रीवास्तव (दूसरे) कायस्थ हैं और इनके वंश के लोग पहिले जौनपुर में रहते थे, पर इनके पिता प्रसिद्ध बाबा रघुनाथदास के शिष्य हो गए थे अतएव वे जौनपुर छोड़ अयोध्या में आ बसे। यहीं २० जनवरी सन् १८५८ को इनका जन्म हुआ। इनका विद्यारम्भ बाबा रघुनाथ दास ही ने कराया था, पर इसके पीछे एक मौलवी साहिब उर्दू फ़ारसी पढ़ाने के लिये नियत हुए। सौभाग्यवश उक्त अध्यापक कुछ हिंदी भी जानते थे अतएव लाला सीताराम ने उर्दू के साथ कुछ हिंदी भी पढ़ी पर इनके पिता वैष्णव थे और बाबा रघुनाथदास के शिष्य थे अतएव उन्हें धर्म-संबंधी भाषा-ग्रंथों से बड़ा अनुराग था। लाला सीताराम बालपन में अपने पिता के ग्रंथों को प्रायः पढ़ा करते। इसीसे उन्हें हिंदी का ज्ञान और उससे प्रेम उत्पन्न हो गया।

इसके कुछ काल अनंतर इन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया और सब परीक्षाएं बड़ी सफलता से पास कीं। सन् १८८९ में बी० ए० की परीक्षा में इनका नंबर सब से ऊपर रहा। एफ़० ए० की परीक्षा में इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और बी० ए० की परीक्षा के लिए विज्ञान पढ़ा। पीछे से सन् १८९० में इन्होंने वकालत की परीक्षा भी पास की।

पहिले पहिल ये अवध अख़बार के सम्पादक हुए और दो ही महीने पीछे उसे छोड़ कर बनारस कालेज के स्कूल-विभाग में तीसरे अध्यापक हुए। (अगस्त १८७९ ई० में) तीन ही महीने पीछे ये हेड मास्टर बना कर सीतापुर भेजे गए। यहाँ दो वर्ष काम करके

फ़ैजाबाद में सायंस मास्टर हो कर आए। एक वर्ष यहाँ काम करने पर फिर बनारस में सेकेंड मास्टर हो कर आए। यहाँ ये ५ वर्ष रहे और उस काल में आपको संस्कृत अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। फिर तो कई स्थानों में हेड मास्टर रह कर ये असिस्टेंट इँस्पेक्टर हुए। इसके अनंतर सन् १८९५ में ये डिप्टी-कलेक्टर नियत किए गए। और अब पेंशन लेकर प्रयाग में रहते हैं।

हिंदी में अच्छी योग्यता होने के कारण और बहुत काल तक काशी में अच्छे अच्छे पंडितों का सहवास रहने से ये हिंदी की अच्छी सेवा कर सके हैं। इनका हिंदी का पहिला ग्रंथ मेघदूत का अनुवाद है जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ। इसके अनंतर इस प्रकार इन्होंने ग्रंथ प्रकाशित किए।

(२) कुमारसम्भव १८८४
(३) रघुवंश (सर्ग ९ से १५ तक) १८८५
(४) रघुवंश (सर्ग १ से ८ तक) १८८६
(५) नागानंद १८८७
(६) रघुवंश (सम्पूर्ण) १८९२
(७) ऋतुसंहार १८९३

इसी बीच में शेक्सपियर के दो नाटकों का अनुवाद इन्होंने उर्दू में छापा। एक भूलभुलैयाँ के नाम से और दूसरा दामे मुहब्बत के नाम से छपा। इसके अनंतर डिप्टी-कलेक्टरी के जंजाल में पड़ने से ग्रंथ-रचना के काम में कई वर्ष तक ढील रही। फिर इन्होंने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद छापा। इनमें उत्तररामचरित्र, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक आदि मुख्य हैं। हितोपदेश और प्रजाकर्तव्य कर्म ये दो ग्रंथ इन्होंने और लिखे। आज कल गणित के प्राचीन ग्रंथों के छापने में आप लगे हुए हैं।

संस्कृत के काव्य-रत्नों को भाषा में लिख कर छापने का गौरव सब से अधिक लाला सीताराम को प्राप्त है। आनंद इस बात का है कि ये अभी तक अपने विद्या-व्यसन में लगे हुए हैं। डिप्टीकलक्टर होने पर भी शिक्षाविभाग से इनका संबंध नहीं छूटा। ये प्रायः भिन्न भिन्न परीक्षाओं में परीक्षक नियत हुए हैं तथा कई वर्ष तक युनिवर्सिटी के फ़ेलो और टेक्सबुक् कमेटी के मेंबर भी रहे हैं।

---

(२४) पंडित राधाचरण गोस्वामी ।
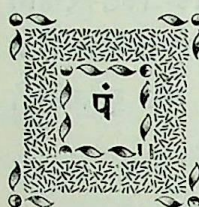
पंडित राधाचरण गोस्वामी जी गौड़ ब्राह्मण हैं । जन्म-तिथि फाल्गुन कृष्ण ५ संवत् १९१५ तारीख़ २५ फ़रवरी सन् १८५९ ई० है । इनके पिता का नाम श्रीगोस्वामी लल्लू जी था । वे वृंदावन में श्रीराधारमण के मंदिर के गोस्वामी संप्रदाय के आचार्य्य थे ।

संवत् १९२१ में गोस्वामी राधाचरण जी का कर्णवेध संस्कार हुआ और उसी समय से इनका विद्याध्ययन आरंभ हुआ । इनकी माता स्वयं पढ़ी लिखी थीं । अस्तु, जो कुछ ये गुरु जी से पढ़ते थे उसे वे स्वयं सुन लिया करती थीं परंतु संवत् १९२३ में जब इनका देहांत हो गया तो ये अपने पिता के समीप रहने लगे । कार्यवशात् जहाँ जहाँ इनके पिता को बाहर जाना पड़ता वहाँ ये भी उनके साथ जाते पर इससे इनके पढ़ने लिखने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी । संवत् १९२७ में इन्होंने नियमित रूप से संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया । पहिले इन्होंने व्याकरण और कुछ काव्य पढ़ा और फिर श्रीमद्भागवत और अपने गोस्वामी संप्रदाय के धर्म-ग्रंथ पढ़े ।

संवत् १९३० में जब कि आप फ़रुख़ाबाद में पंडित उमादत्तजी के पास कौमुदी पढ़ते थे तब यहाँ के गवर्नमेंट स्कूल में शहर के संस्कृत विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई । उसमें ये भी सम्मिलित थे । अतएव वहाँ अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रभाव और परीक्षा का ढंग देख कर इन्हें अँगरेज़ी पढ़ने का चाव हुआ । इन्होंने फ़रुख़ाबाद के ज़िला-स्कूल में अपना नाम लिखा लिया । यह समाचार पाकर
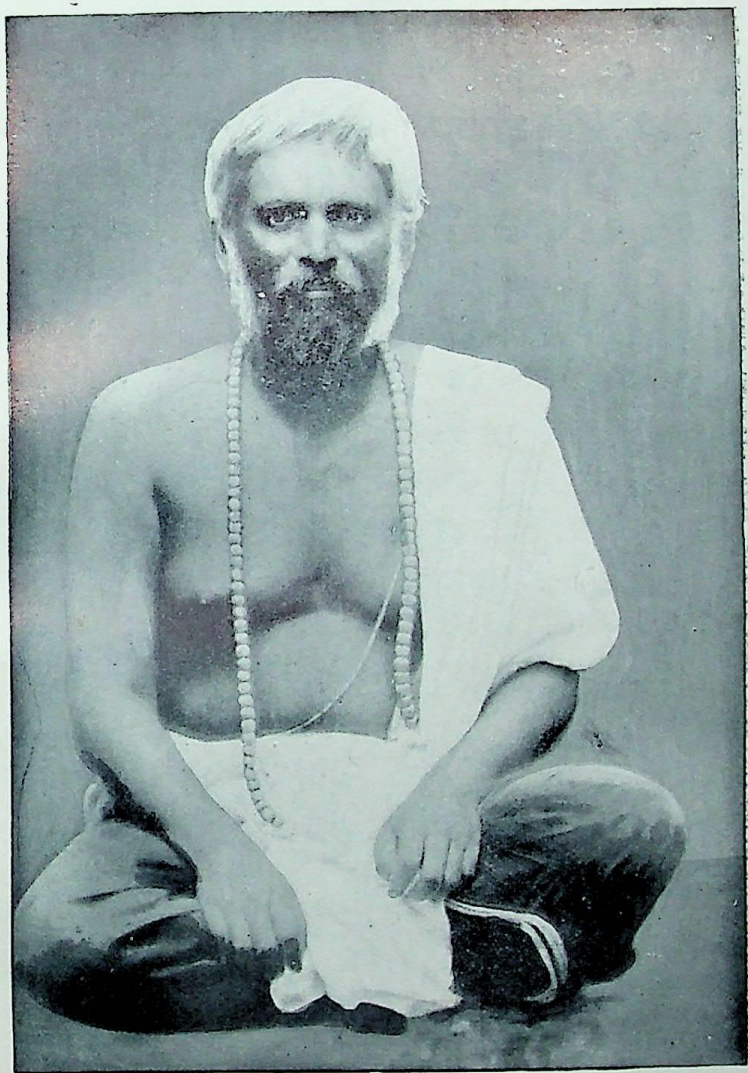
पंडित राधाचरण गोस्वामी ।
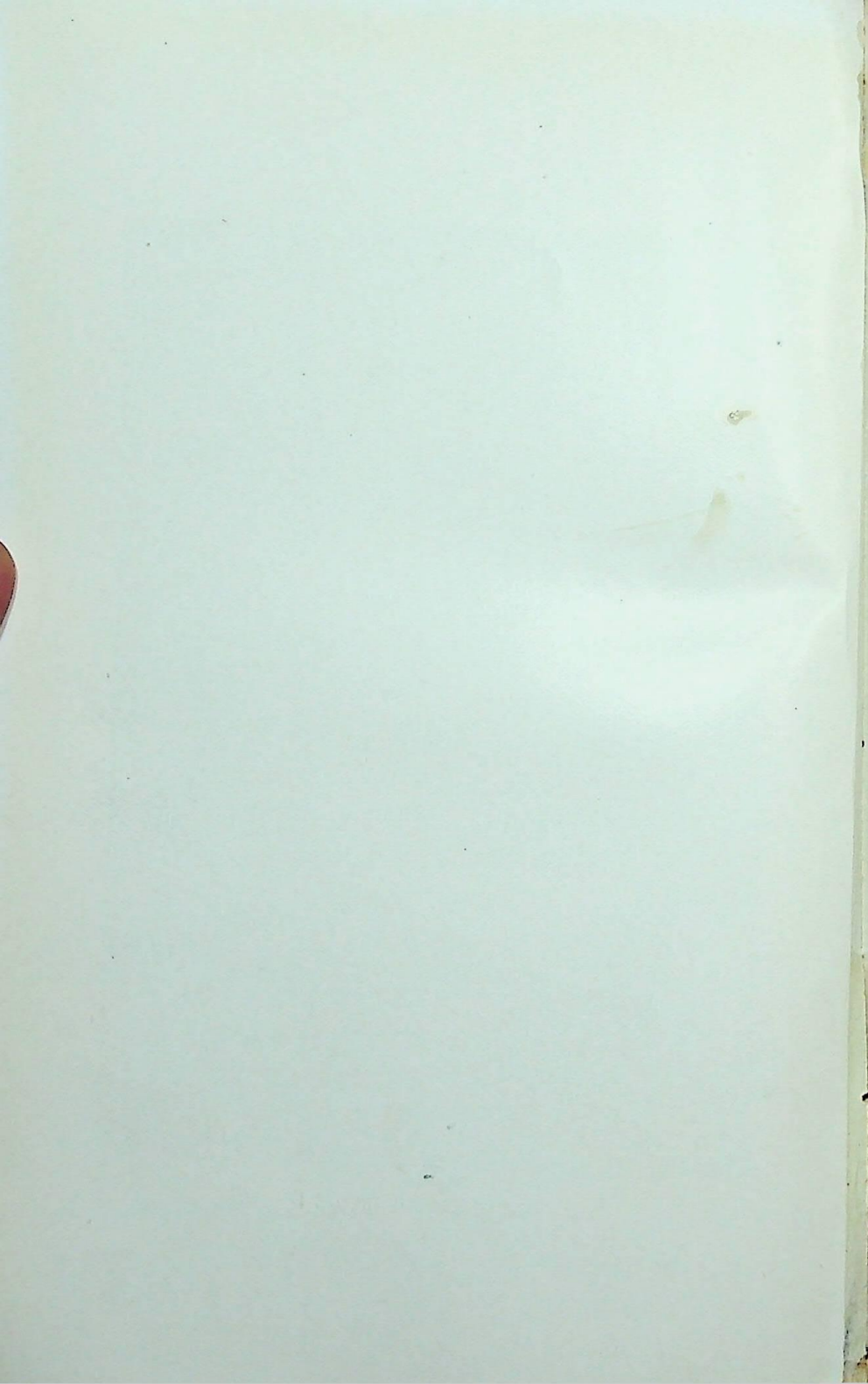
इनकी शिष्य-मंडली में वड़ा हलचल मचा । लोगों ने चारों ओर से डांट बताना शुरू किया कि यदि म्लेच्छ भाषा पढ़ोगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे । तब तो जीविका जाते देख कर इन्हें विवश हो अँगरेज़ी पढ़ना छोड़ देना पड़ा । उसी समय काशी से हरिश्चंद्र मेगज़ीन प्रकाशित होने लगा था । उसे पढ़ कर इनकी देश-सेवा की ओर प्रवृत्ति हुई ।

संवत् ३२ में इन्होंने अपने मित्र श्रीगोस्वामी मधुसूदन जी से मिलकर "कविकुलकौमुदी" नाम की सभा स्थापित की जिसका मूल उद्देश्य हिंदी और संस्कृत की पुष्टि करना था । इस सभा के प्रथम ही अधिवेशन के तीन दिन पहिले इनकी स्त्री का देहांत हो गया । परंतु शोकग्रस्त अवस्था में भी ये सभा में सम्मिलित हुए । उस समय भी परम वैष्णव लोगों ने सभा को एक अनोखी बात समझ कर विरोध किया परंतु इन्होंने किसी से प्रतिवाद न करके अपना कार्य्य करते जाना ही मुख्य समझा ।

उसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हो गया । इन्होंने अपनी इस दूसरी पत्नी को स्वयं शिक्षा देकर एक सुयोग्य विदुषी स्त्री बनाया । सभा सोसाइटियों के समागम से इन्होंने भिन्न भिन्न धर्मों के ग्रंथ पढ़े जिससे इनकी विशेष ज्ञान-वृद्धि हुई । परंतु इनकी ब्राह्म धर्म पर कुछ विशेष रुचि हुई और ये "हिंदुबांधव" में ब्राह्म-धर्म के पक्ष में लेख भी लिखने लगे परंतु बाबू हरिश्चंद्र जी के गुप्त रूप से कटाक्ष करने पर इन्होंने ब्राह्म-धर्म से अपना संबंध तोड़ दिया । फिर इन्होंने आर्यसमाज के ग्रंथ पढ़े और स्वामी दयानंद जी से साक्षात् प्रश्नोत्तर किए । स्वामी जी पर आपकी विशेष श्रद्धा थी ।

संवत् १९३४ से इन्होंने अपनी जीविका भी सँभाली और क़लम भी सँभाली । संवत् १९४० तक के प्रायः सब हिंदी के पत्रों में आपके

लेख पाए जाते हैं। सब लेख गूढ़ और प्रभावजनक हैं। सब लेखों की संख्या कोई दो सौ होगी पर कोई कोई लेख तो इतने बड़े हैं कि जिनकी एक अलग पुस्तक बन सकती है। सन् १८८३ में इन्होंने "भारतेंदु" मासिक पत्र निकाला पर सहायता के अभाव से इसे बंद कर देना पड़ा। सन् १८८४ ई० में प्रयाग में हिंदी-पत्र-सम्पादकों की एक सभा हुई थी, उसके आप मंत्री थे।

सन् १८८६ में इन्हें कांग्रेस का प्रतिनिधि होकर कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से आकर इन्होंने "विदेश-यात्रा-विचार" और "विधवा-विवाह-विवरण" दो ग्रंथ समाजसंशोधन पर लिखे। सन् १८८५ में ये वृंदावन के म्युनिसिपल कमिश्नर चुने गए। इस पद पर इन्होंने बड़ी स्वतंत्रता, योग्यता और सावधानी से कार्य्य किया। सन् १८९३ में इन्होंने मथुरा की डिविज़नल काँग्रेस कमेटी के मंत्री का कार्य किया।

इस समय भी आप वृंदावन के आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्युनिसिपल कमिश्नर हैं। यद्यपि आप पक्के सनातन-धर्म्मावलंबी हैं परंतु किसी मत से द्वेष नहीं रखते बरन् वर्तमान समाज-संशोधन के आप पक्षपाती हैं।

सन् १८८३ में जब कि शिक्षा-कमिशन बैठी थी तो इन्होंने २१००० मनुष्यों के हस्ताक्षर हिंदी के पक्ष में करवाए थे। समाचार-पत्रों के तो आप इतने प्रेमी हैं कि छोटे से लगा कर बड़े तक जितने हिंदी के समाचारपत्र आजलों निकले या निकल रहे हैं सब की पूरी फ़ाइलें आपके यहाँ पाई जा सकती हैं।

---

(२५) साहित्याचार्य्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास ।

पंडित अम्बिकादत्त के पूर्वज राजपुताने के रहने वाले थे। परंतु इनके पितामह पंडित राजाराम जी काशी में आ बसे थे। राजारामजी के दो पुत्र हुए। दुर्गादत्त जी और देवदत्त जी। दुर्गादत्त जी प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। हमारे व्यासजी इन्हीं दुर्गादत्तजी के ज्येष्ठ पुत्र थे।

व्यास जी का जन्म संवत् १९१५ चैत्र शुक्ला अष्टमी को हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें विद्याध्ययन आरम्भ कराया गया और उसी खेल कूद में शब्दरूपावली और अमरकोष का अभ्यास कराया जाने लगा। घर की स्त्रियाँ सब पढ़ी लिखी थीं इसलिये इनकी शिक्षा उत्तम रीति से होने लगी। आठ नौ वर्ष की अवस्था होने पर इन्हें शतरंज और सितार का चस्का लगा और उसी समय कविता का भी व्यसन आरम्भ हुआ।

दश वर्ष की अवस्था होने पर व्यास जी का यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय से आप गोस्वामी श्रीकृष्ण चैतन्य देव जी के यहाँ भाषा-काव्य पढ़ने लगे। उस समय गोस्वामी जी एक प्रसिद्ध कवि थे और उनके यहाँ अच्छे अच्छे कवि एकत्रित हुआ करते थे। ऐसा सत्संग पा कर कुशाग्रबुद्धि व्यास जी बहुत ही शीघ्र काव्य-कुशल हो गए। इन्हें एक वर्ष में ही कविता के समस्त प्रस्तारों का अच्छा ज्ञान हो गया और ये भरी सभा में समस्यापूर्त्ति करने लगे।

धीरे धीरे व्यास जी का बाबू हरिश्चंद्रजी से परिचय हो गया और ये उनके यहाँ आने जाने लगे और इनकी कविता भी कवि-

वचन-सुधा में प्रकाशित होने लगी। इसी बाल्यावस्था में इन्होंने महाराज काशिराज के यहाँ की धर्मसभा से भी पारितोषिक पाया। जिस समय व्यास जी की अवस्था केवल १२ वर्ष की थी उस समय काशी जी में एक तैलंग देश के अष्टावधानी कवि आए, उन्होंने अपना बुद्धि-कौशल दिखला कर यहाँ के सब पंडितों को चकित कर दिया परंतु हमारे व्यास जी ने भी तत्काल शतावधान रच कर उक्त पंडित को भी चकित किया। उन्होंने अत्यंत प्रसन्न हो कर इन्हें 'सुकवि' की पदवी प्रदान की जिसे यहाँ की सब विद्वन्मंडली ने भी स्वीकार कर लिया।

१३ वाँ वर्ष आरम्भ होते ही इन्होंने संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। एक तरफ़ तो ये व्याकरण, सांख्य, साहित्य, वेदांतादि गहन विषयों का अध्ययन करते और दूसरी ओर गान-वाद्य-संबंधी कलाओं का अभ्यास करते जाते थे। संवत १९३३ में इन्होंने काशी गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में नाम लिखवाया और एक ही वर्ष के परिश्रम में वहाँ से उत्तम परीक्षा पास की। संवत् १९३७ में इन्होंने आचार्य परीक्षा पास की और दूसरे वर्ष साहित्य परीक्षा पास कर के सरकार से साहित्याचार्य्य की पदवी प्राप्त की।

दुर्दैववश उसी साल इनके पिता ने परलोकवास किया इससे घर में कलह होने लगी जिससे दुखित होकर इन्होंने कलकत्ते की यात्रा की और वहाँ अपने विद्या-बल से .खूब नाम पैदा किया। परंतु तीन ही महीने बाद वहाँ से चले आए। और पीयूषप्रवाह प्रकाशित करने लगे जो कि इनके यावज्जीवन चलता रहा। अभ्यास करते करते इनकी धारणा यहाँ तक बढ़ गई थी कि ये २४ मिनट में सौ श्लोक रच सकते थे। इसीसे काशी की ब्रह्माऽमृतवर्षिणी सभा ने इन्हें एक चाँदी के पदक सहित "घटिकाशतक" की उपाधि प्रदान की थी।

यह सब कुछ था परंतु इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी इसलिये संवत् १९४० में इन्होंने मधुबनी जा कर वहाँ के स्कूल में ३५ रु० मासिक की नौकरी कर ली। यहाँ भी इन्होंने अनेक व्याख्यान दिए और सभाएं स्थापित कीं। यहाँ सब से बड़ा काम जो व्यास जी ने किया वह "संस्कृत-संजीवनी-समाज" का स्थापित करना है, इस समाज के द्वारा विहार की अनिश्चित शिक्षा-प्रणाली का ऐसा सुधार हुआ कि जिससे अब सैकड़ों छात्र प्रतिवर्ष संस्कृत-शिक्षा पाते और उपाधि लाभ करते हैं।

संवत् १९४२ में मधुबनी से इस्तीफ़ा देकर ये बाँकीपुर में चले आए। इसके दूसरे वर्ष मुज़फ़्फ़रपुर के स्कूल के हेड पंडित करके वहाँ भेजे गए। संवत् १९४४ में इनकी बदली भागलपुर के ज़िलास्कूल को हुई। इसी समय इन्होंने संस्कृत में 'सामवत नाटक' बना कर राजा साहेब दर्भगा को समर्पण किया और शिवराज-विजय नामक एक उपन्यास भी संस्कृत में लिखा। संवत् १९४८ में इनकी बिहारी-विहार की हस्त-लिखित पुस्तक चोरी चली गई। उसे उन्होंने पुनः पूर्ण किया। काँकरौली-नरेश ने आप को 'भारत-रत्न' की पदवी प्रदान की थी और अयोध्यानरेश ने एक स्वर्ण-पदक-सहित 'शतावधान' की पदवी दी थी।

छोटे बड़े सभी इनका सम्मान करते थे। संवत् १९३५—५६ में इन्हें गवर्नमेंट पटना कालेज में प्रोफ़ेसर का पद मिला परंतु ये शरीर से अस्वस्थ रहते थे मानों दैव ने उस पद का भोग इनके भाग्य में लिखा ही न था। व्यास जी बँगला, महाराष्ट्री, गुजराती, अँगरेज़ी आदि भाषाएं भी जानते थे। इन्होंने हिंदी संस्कृत में कुल ७८ ग्रंथ लिखे जिनमें से बहुत से अधूरे ही रह गए और अनेक अबलों अप्रकाशित हैं।

उन्नीसवीं नवंबर सन् १९०० को व्यास जी का परलोकवास काशी में हुआ।

---

(२६) पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ।

कास्मीर की राजधानी जंबू से बीस कोस पर जामवंत की बेटी जाम्बवती में गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण जी के पुत्र शांब का बसाया हुआ साँवाँ नगर है। यही साँवाँ नगर पंडित दुर्गाप्रसाद की जन्मभूमि है। आप सूर्य्यवंश के आदि-पुरोहित वशिष्ठ ऋषि-कुलोत्पन्न सारस्वत ब्राह्मण हैं। इनकी वंश-परम्परा-उपाधि "राजोपाध्याय" है परंतु पंजाब में ब्राह्मण मात्र को "मिश्र" कहते हैं इसीसे इनके नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। इनके पिता का नाम पंडित घसीटाराम मिश्र था।

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र का जन्म आश्विन संवत् १६१६ की शारदीय नव दुर्गाओं में नवमी बुधवार को हुआ था। इसीसे आपका नाम दुर्गाप्रसाद रक्खा गया। पितामह आपके संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कर्मकांड में परम प्रवीण पंडित थे। वे सपरिवार जगदीश के दर्शन करने गए। वहाँ से लौट कर आते समय कलकत्ता-निवासी पंजाबी खत्रियों ने इनसे कलकत्ते में ही प्रवास करने का अनुरोध किया इसलिए ये भी वहीं रहने लगे। इनके तीन पुत्र थे और वे तीनों सौदागरों की बड़ी बड़ी कोठियों में दलाली का काम करने लगे।

पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने बाल्यावस्था में डोगरी हिंदी और बँगला भाषाओं का घर पर ही अभ्यास किया और फिर काशी में आकर संस्कृत पढ़ी। इसके बाद कलकत्ते चले गए और नार्मल स्कूल में अँगरेज़ी का अभ्यास करने लगे। अँगरेज़ी में कुछ पढ़ने लिखने का ज्ञान प्राप्त कर के इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और अपने बड़ों के
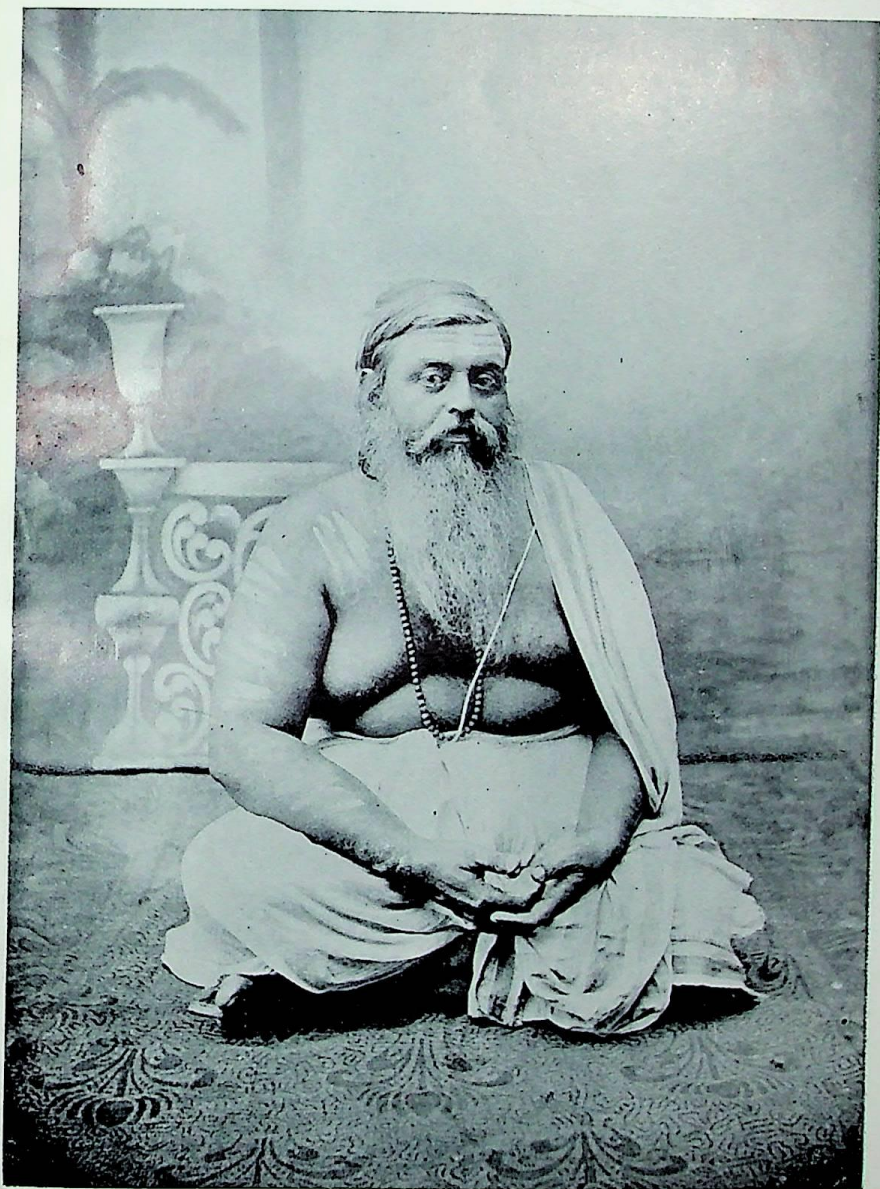
पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र ।

प्रेरणानुसार दलाली का काम करने लगे। इस काम को इन्होंने कुशलता से किया और अपनी आय भी अच्छी बढ़ाई, पर चित्त की प्रवृत्ति इस ओर न होने से इन्होंने इस काम को शीघ्र ही छोड़ दिया। छात्रावस्था में पंडित दुर्गाप्रसाद जी बँगला के समाचार-पत्र बड़े प्रेम से पढ़ा करते थे और उस समय उनके चित्त में यह विचार उठा करता था कि यदि ऐसे ही पत्र हिंदी में निकला करें तो अच्छा हो। सौभाग्यवश उसी समय काशी से कविवचनसुधा नाम का पत्र प्रकाशित होने लगा और ये उसके संवाददाता बने। इसके अनंतर पटने से विहारबंधु का जन्म हुआ। इसके भी यह सहायक रहे। अब दलाली का काम छोड़ कर ता० १७ मई १८७८ को आप ने हिंदी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "भारतमित्र" को प्रकाशित करना आरंभ किया, परंतु ग्राहकों के समय पर चंदा न देने से आर्थिक त्रुटि के कारण इस पत्र का भार 'भारतमित्रसभा' को दे दिया।

इसके कुछ दिनों पीछे स्वर्गीय पंडित सदानंद मिश्र के अनुरोध से इन्होंने "सारसुधानिधि" नाम का एक पत्र निकाला। एक साल चल कर जब यह भी बंद हो गया तब सन् १८८० में केवल अपने बाहुबल के आश्रय पर "उचितवक्ता" पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। उचितवक्ता ने हिंदी सृष्टि में एक नया कर्तब कर दिखलाया। इस पत्र में गूढ़ राजनैतिक विषयों पर पंडित जी के हँसी दिल्लगी भरे लेख सर्वप्रिय और प्रभाव-जनक होते थे।

जंबू-नरेश महाराज रणवीरसिंह पंडित जी पर विशेष प्रेम रखते थे। उन्होंने जंबू से "जंबूप्रकाश" पत्र चलाने की इच्छा से पंडितजी को बुलाया था परंतु उनकी अस्वस्थता के कारण यह न हो सका। तब ये फिर चलकत्ते चले आए और उचितवक्ता को चलाते रहे। महाराज रणवीरसिंह का स्वर्गवास हो जाने के कारण वर्तमान

जंबू-नरेश ने इन्हें बुलाया और शिक्षा-विभाग के सर्व्वोच्च पद पर नियत किया परंतु थोड़े ही दिनों के बाद राज्यप्रबंध में कुछ गड़बड़ देख कर इन्होंने वहाँ रहना उचित न समझा और इस्तीफ़ा देकर वे वहाँ से चले आए। इन्होंने स्वर्गीय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के अनुरोध से विहार प्रांत के लिये हिंदी में कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखी थीं जो कि अब तक विहार के स्कूलों में प्रचलित हैं।

जंबू-राज्य से पीड़ित एक स्वदेशी पुरुष के कहने से इन्होंने उचितवक्ता में जंबू राज्य के रहस्यों को प्रकाशित करना आरंभ किया परंतु इससे जब जंबू की शासन-प्रणाली पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा तो इन्होंने देशवासियों के एक दल के सहित उस समय हिंदुस्तान में आए हुए पार्ल्यामेंट के मेंबर मिस्टर ब्रैडला से मुलाकात की और अपने देशवासियों का दुःख सुनाया। उन्होंने विलायत जाकर इनकी बड़ी तारीफ़ की और पार्ल्यामेंट में जंबूराज्य की बातें पेश करके उनका सुधार करवाया। अंत में इन्होंने "मारवाड़ी-बन्धु" नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला था पर वह भी कुछ दिन चलकर बंद हो गया।

अमृत-बाज़ारपत्रिका के प्रवर्तक सम्पादक राजनीति-कुशल बाबू शिशिर-कुमार घोष को पंडित दुर्गाप्रसाद अपना राजनैतिक गुरु मानते थे। पंडित जी ने हिंदी में छोटी बड़ी कुल २०, २२ पुस्तकें लिखी हैं। आप बड़े साधारण स्वभाव के मिलनसार और हँसमुख मनुष्य थे और बंगाल में हिंदी-पत्रों के जन्मदाता और प्रचारकों में थे। पंडितजी में एक विचित्र शक्ति यह थी कि जिससे मिलते उसे मोहकर अपने वश में कर लेते थे। आपका देहांत सन् १९१० के अंत में कलकत्ते में हुआ।

———
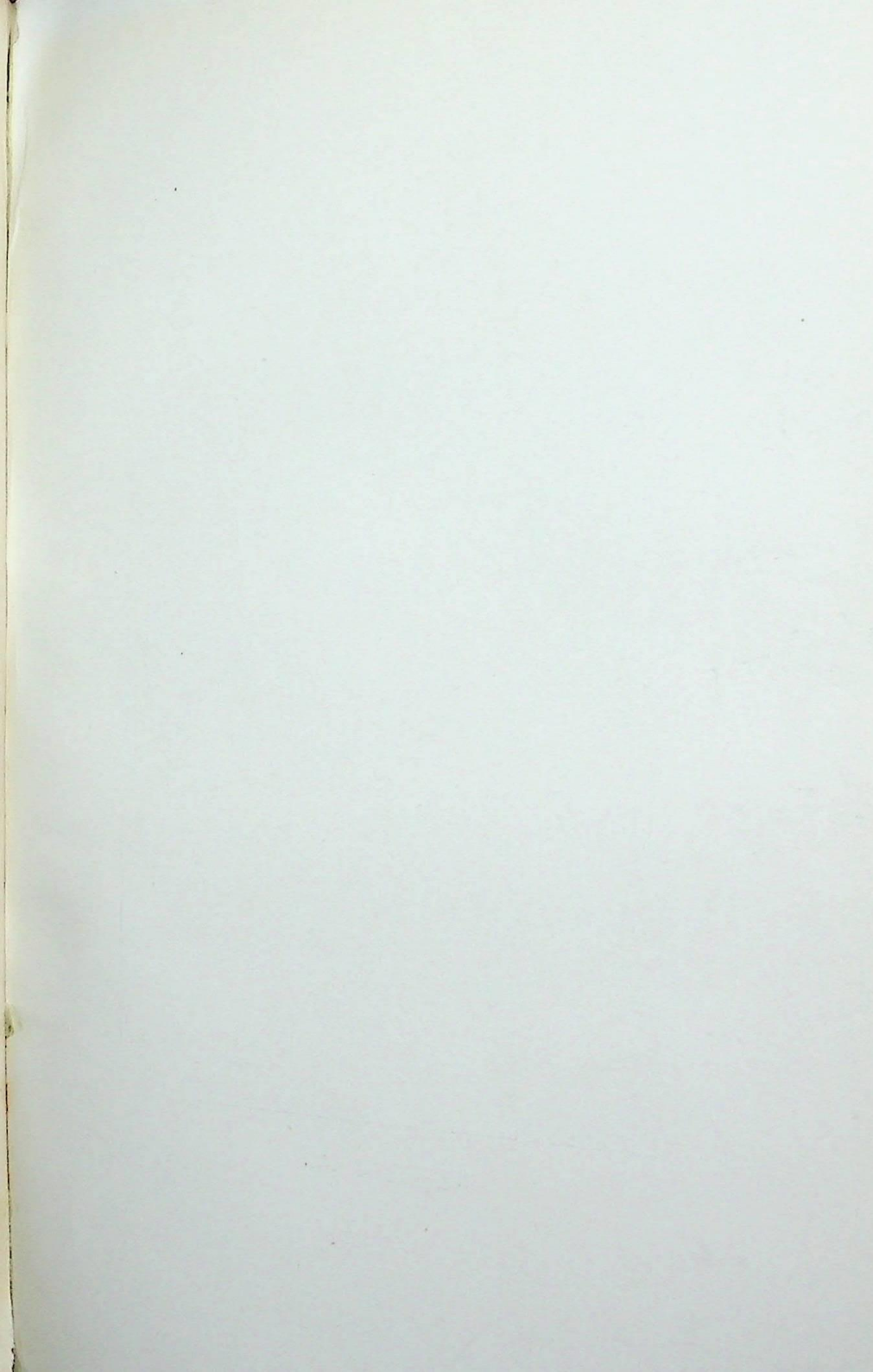
बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ।

(२७) बाबू रामकृष्ण वर्मा ।

न् १८४० के लगभग हीरालाल खत्री पंजाब से पैदल चल कर काशी को आए। यहाँ चपरिया गली में ठहर कर इन्होंने परचूनी की दुकान खोली और क़रीब पचास वर्ष की अवस्था में आज़मगढ़ में अपना विवाह किया, इनके राधाकृष्ण, जयकृष्ण और रामकृष्ण तीन पुत्र हुए।

बाबू रामकृष्ण वर्मा का जन्म सन् १८५९ संवत् १९१६ आश्विन कृष्ण ७ को हुआ था। जिस समय इनके पिता का ७० वर्ष की अवस्था में देहांत हुआ उस समय इनके बड़े भाई राधाकृष्ण की १६ वर्ष की अवस्था थी और रामकृष्ण केवल एक वर्ष एक महीने के थे। इनकी माता ने अपने तीनों पुत्रों का बड़े कष्ट से पालन पोषण किया क्योंकि उस समय इनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही हीन थी।

कुछ वयः प्राप्त होने पर इनकी माता ने इन्हें पढ़ने को बैठाया। जब इन्होंने गुरु के यहाँ हिंदी पढ़ना लिखना सीख लिया तब ये जयनारायण कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने के लिये बैठाए गए। यहाँ भी इन्होंने ख़ूब मन लगा कर पढ़ा। बाइबिल की परीक्षा में तो ये हमेशा औवल रहते थे। दूसरी भाषा इनकी संस्कृत थी, इन्होंने संस्कृत में भी अच्छी योग्यता प्राप्त की। उक्त स्कूल से एँट्रेंस पास कर लेने पर इन्होंने क्वींस कालेज में नाम लिखाया और वहाँ से इन्होंने बी० ए० की परीक्षा तक पढ़ा पर उसमें उत्तीर्ण न हो सके। कालेज में पढ़ते समय ये घर पर पंडित हरिभट्ट मानेकर जी से संस्कृत भी पढ़ते थे। इनकी बाइबिल पर अधिक रुचि देख कर उन्होंने इन को ईसाई धर्म से हटा

कर सनातन धर्म का मार्ग बतलाया । ये अकसर कहा करते थे कि मुझे ईसाई होने से बचाने में पंडित जी ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की थी ।

छात्रावस्था में बाबू रामकृष्ण ट्यूशनों से अपनी जीविका निर्वाह करते थे । पढ़ना छोड़ने के बाद इन्होंने हरिश्चंद्र स्कूल में नौकरी करली पर कुछ दिन पीछे वह भी छोड़ दी और किताबों की एक छोटी सी दूकान कर ली । बाबू हरिश्चंद्र जी की तथा गोपालमंदिर के अध्यक्ष लाल जी महाराज की इन पर विशेष कृपा थी क्योंकि ये बड़े कुशाग्र-बुद्धि और हिंदी भाषा के स्वभाव से ही एक अच्छे कवि थे । इनकी किताबों की दुकान अच्छी चली । सन् १८८४ में कलकत्ते जाकर इन्होंने एक प्रेस ख़रीदा । इस प्रेस में पहिले इन्होंने ईसाई-मत-खंडन नाम की एक पुस्तक छापी । उसकी ख़ूब बिक्री हुई और जल्दी ही इनका छापाख़ाना चल निकला । इसी साल मार्च मास से इन्होंने "भारतजीवन" नाम का पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया जो कि अब तक जारी है । इनके इस प्रेस का और पत्र का नाम बाबू हरिश्चंद्रजी ने स्वयं रक्खा था । इस प्रेस से हिंदी की अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं ।

बाबू रामकृष्ण वर्मा को शतरंज खेलने का बड़ा शौक़ था । और उसमें ये बड़े प्रवीण भी थे । इन्होंने पंडित अम्बिकादत्त व्यास की सहायता से कचौरी गली में एक 'चेस क्लब' स्थापित किया था । इन्हें ताश के खेलों का भी अच्छा अभ्यास था । सन् १८८१ ई० में इन्होंने ताशकौतुकपचीसी नाम की एक पुस्तक लिखी थी और उसे हरि-प्रकाश प्रेस में छपवाया था । इसकी बड़ी बिक्री हुई और लोगों ने इसे बहुत पसंद किया ।

वैसे तो बाबू रामकृष्ण जी ने हिंदी-गद्य में अथवा पद्य में

बहुत सी पुस्तकों की रचना की है परंतु इनका बहुत बड़ा और अंतिम परिश्रम कथासरित्सागर का भाषानुवाद है। इसे इन्होंने केवल दश भागों तक अनुवाद किया था। फिर अधिक अस्वस्थता के कारण आगे ये इस काम को उत्साहपूर्वक न कर सके।

दो तीन साल से इनकी तबीयत बहुत ख़राब रहती थी। सन् १९०५ में ये बहुत बीमार हो गए थे पर अच्छे हो गए। फिर सन् १९०६ में इन्हें जलोदर रोग हुआ और उसीसे ता० २५ दिसंबर सन् १९०६ को संध्या को इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी संतति एक कन्या है।

बाबू रामकृष्ण ने अपने परिश्रम और अध्यवसाय से अच्छी उन्नति की और नाम पैदा किया। अपने बाहुबल से मनुष्य क्या कर सकता है इसके ये आदर्श थे।

---

(२८) पंडित श्रीधर पाठक।

पंडित श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण हैं, इनके पूर्व पुरुष कोई ११०० वर्ष हुए कि पंजाब से आकर जोंधरी ग्राम में जो आगरे ज़िले के फ़ीरोज़ाबाद परगने में है बसे थे और कौटुम्बिक जनश्रुति के अनुसार एक विशाल ज़मीदारी उनके वहाँ बसने का हेतु था। पाठक जी के वृद्ध प्रपितामह श्रीकुशलेशजी हिंदी के अच्छे कवि थे और पितामह पंडित धरणीधर शास्त्री धुरंधर नैयायिक थे। पिता पंडित लीलाधर जी यद्यपि एक साधारण पंडित थे परंतु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति और पवित्रता में अद्वितीय थे। उनके गोलोक-गमन को ६: ही वर्ष वीते हैं और तद्विषयक पाठक जी कृत आराध्य शोकांजलि नामक संस्कृत-निबंध पितृभक्ति और कारुणिकता का एक आदर्श उद्रेक है।

पाठक जी का जन्म माघकृष्ण चतुर्दशी संवत् १९१६ ता० ११ जनवरी सन् १८६० ई० को उक्त ग्राम में हुआ। प्रारंभ में इन्हें संस्कृत पढ़ाई गई और १०, ११ वर्ष की अवस्था में अपनी तीव्र-बुद्धि से उस भाषा में इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि संस्कृत बोलने और लिखने लगे। परंतु कई कारणों से उस भाषा में विशेष उन्नति न कर सके। १२ वर्ष की अवस्था में तो पढ़ना ही छूट गया, केवल खेल कूद रह गया।

इस अवस्था में इन्हें आप ही आप चित्र खींचने और मिट्टी की सुंदर मूर्तियाँ बनाने तथाच प्राकृतिक शोभा की विविध वस्तुओं के संग्रह करने में अभिरुचि उत्पन्न हुई, और इसी व्यवसाय में ये तत्पर रहे। १४ वर्ष की अवस्था में फिर पढ़ना आरंभ किया। पहिले

तो कुछ फ़ारसी पढ़ी और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल से हिंदी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में प्रांत भर में इनका नंबर पहिला रहा। सन् १८७९ ई० में आगरा कालेज से अँगरेज़ी मिडिल की परीक्षा पास की और इसमें भी सब उत्तीर्ण परीक्षितों में प्रथम पद प्राप्त किया। इसके एक ही साल बाद सन् १८८० ई० में इन्होंने एँट्रेंस परीक्षा पहिली श्रेणी में पास की।

उक्त परीक्षा पास करने के छः महीने बाद सन् १८८१ में आप कलकत्ते चले गए और वहाँ ६० रु० मासिक पर सेंसस कमिश्नर के स्थायी दफ़्तर में नौकर हुए। इसी नौकरी में इन्हें शिमला जाकर हिमालय का उदग्र वैभव देखने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से लौटने पर कुछ दिन के अनंतर इलाहाबाद में लाट साहिब के दफ़्तर में ३०) मासिक पर नियुक्त हुए। इस दफ़्तर के साथ पाठक जी को कई बेर नैनीताल जाने का सौभाग्य हुआ। सन् १८९८ ई० में जब कि इन का वेतन २००) रु० मासिक था इनकी आगरे को बदली हुई और वहाँ से सन् १९०१ ई० में ३००) रु० मासिक वेतन पर इरीगेशन कमिशन के सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुए। कमिशन के अंत (सन् १९०३) तक ये उसी के साथ रहे। तदनंतर एक वर्ष पर्यंत भारत गवर्नमेंट के दफ़्तर में डिपटी सुपरिंटेंडेंट और सुपरिंटेंडेंट रहे। फिर उस पद को त्याग तीन मास की छुट्टी ले कर काश्मीर की सैर को पधारे। और वहाँ से लौट आने पर "कश्मीर सुखमा" नामक सुललित काव्य रचा। पाठक जी सरकारी काम बड़े परिश्रम और सावधानी से करते हैं और उत्तम अँगरेज़ी लिखने के लिए ख्यात हैं। सन् १८९८—९९ की प्रांतीय इरीगेशन रिपोर्ट में आपकी प्रशंसा छपी है। इस समय ये युक्त प्रदेश के लाट साहेब के दफ़्तर में ३००) रु० मासिक पर सुपरिंटेंडेंट हैं।

पंडित श्रीधर पाठक इस समय हिंदी भाषा के एक अच्छे कवि हैं। आप व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में एक समान कविता रचते हैं। परंतु खड़ी बोली में आपकी कविता आदर्श रूप होती है। आप उसके पक्के समर्थक और सरल सरस-प्रसाद गुण-विशिष्ट स्वभाव सुंदर उक्ति के प्रदर्शक हैं। निदान इस विषय में आप अद्वितीय हैं।

इन्होंने स्कूल में पढ़ते समय सब से पहिले अपनी जन्मभूमि जोंधरी ग्राम की प्रशंसा में एक कविता रची थी परंतु वह प्रकाशित नहीं की गई वरन् रचना के पश्चात् शीघ्र ही नष्ट कर दी गई। उसके बाद जब जो मौज में आया लिखा। आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह "मनोविनोद" नाम से पुस्तकाकार तीन भागों में प्रकाशित हो गया है और हिंदी के सब सहृदय-प्रेमियों की बड़े प्रेम और आदर की वस्तु है। कारण यह कि पाठक जी के पद्य मात्र में एक ऐसी स्थायी मनोहरता है कि बार बार पढ़ कर भी फिर पढ़ने को जी करता है। गोल्डस्मिथ के तीन ग्रंथों का पद्यानुवाद आपने "एकांतवासी योगी" "ऊजड़ ग्राम" और "श्रांतपथिक" नाम से प्रकाशित किया है। इन तीनों ग्रंथों का बड़ा प्रचार और सम्मान है। इसमें से श्रांतपथिक खड़ी बोली में अँगरेज़ी-पद्य की एक पंक्ति का हिंदी की एक पंक्ति में अनुवाद है। आप प्राकृतिक दृश्यों का अच्छा चित्र खींचते हैं।

प्रयाग में आपने एक रमणीक निवासस्थान निर्मित कराया है और उसी में अब रहते हैं।
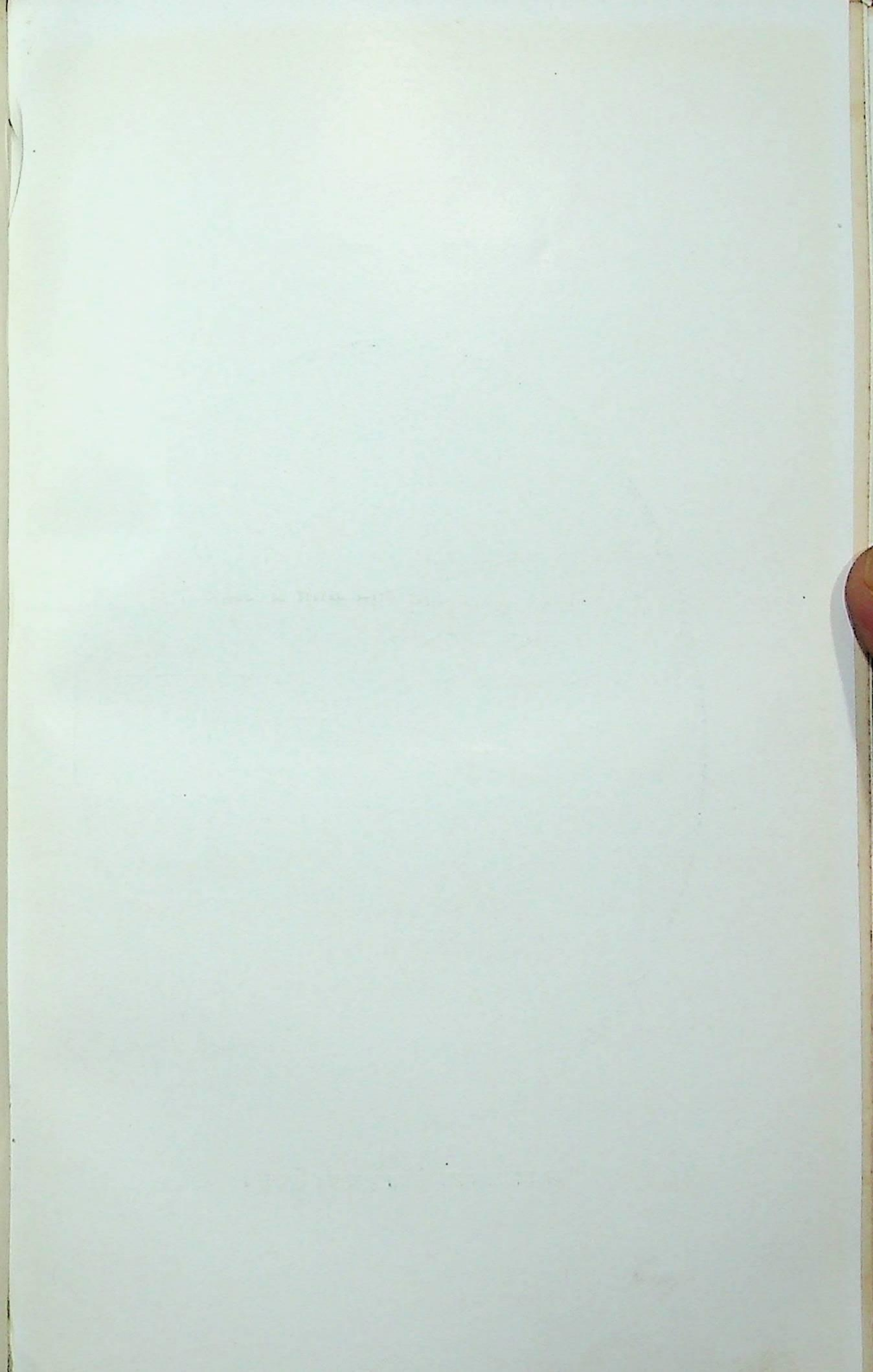
महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ।

(२६) महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी।

बहुत दिन हुए चैनसुख नामक एक सरयूपारी दुबे ब्राह्मण काशी में संस्कृत पढ़ने आए। वे शिवपुर के पास मँडलाई गाँव में एक उपाध्याय के यहाँ अध्ययन करने लगे। उपाध्याय जी की कोई संतति न होने के कारण चैनसुख ही उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। इनसे कई पीढ़ी पीछे शारंगधर और शिवराज दो भाई हुए। शारंगधर ने खजुरी सारनाथ आदि कई गाँवों की ज़मींदारी लेकर खजुरी में अपना निवास-स्थान नियत किया। शिवराज उपाध्याय के तीन पुत्र हुए, जिनमें रामप्रसाद सब से छोटे थे। इनके समय में केवल खजुरी की ज़मींदारी हाथ में रह गई थी। रामप्रसाद के पाँच पुत्र हुए। जिनमें कृपालुदत्त सब से छोटे थे। कृपालुदत्त ज्योतिष-विद्या में निपुण हुए और इनके हस्ताक्षर भी अच्छे होते थे। क्वींस कालेज की भीतों पर अंकित अक्षर इन्हीं के लिखे हुए हैं। पंडित सुधाकरजी इन्हीं कृपालुदत्त के पुत्र हैं। पंडित कृपालुदत्त स्वयं भाषा काव्य के बड़े प्रेमी तथा कवि थे।

जिस समय सुधाकर जी का जन्म हुआ इनके पिता मिर्ज़ापुर में थे। इनके चचा दरवाज़े पर बैठे थे। डांकिये ने आकर सुधाकर नामक पत्र उनके हाथ में दिया तब तक भीतर से लड़के के जन्म होने की ख़बर आई। आपने कहा कि इस लड़के का नाम सुधाकर हुआ। इनका जन्म संवत् १९१७ चैत्रशुक्ला चतुर्थी सोमवार को हुआ था। द्विवेदीजी की ९ मास की अवस्था होते ही इनकी माता का देहांत हो गया इसलिये इनके लालन पालन का भार इनकी

दादी पर पड़ा। इनके पिता घर पर नहीं रहते थे। और घर भर का इन पर विशेष प्यार था। इसीसे आठ वर्ष की अवस्था तक इनकी शिक्षा की ओर किसी ने कुछ भी ध्यान न दिया। इसके बाद जब इनके बड़े चचा ने इन्हें पढ़ने को बैठाया तो इन्होंने थोड़े ही समय में बहुत उन्नति कर दिखलाई। यज्ञोपवीत होते ही इनकी धारणाशक्ति ऐसी तीव्र हो गई कि जो पद्य एक बार देखा कंठस्थ हो गया।

इनके बड़ों ने तो सोचा कि इन्हें कुछ व्याकरण पढ़ाकर कथा पुराण बाँचने योग्य बना दिया जाय, पर इनकी तबीयत ज्योतिष शास्त्र में लग गई और केवल लीलावती पढ़ कर ये गणित के बड़े बड़े प्रश्नों को सहज में हल करने लगे। इनकी ऐसी तीव्र बुद्धि देख कर पंडित बापूदेव शास्त्री इनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने क्वींस कालेज के प्रिंसपल ग्रिफ़िथ साहिब से इनकी बड़ी प्रशंसा की। इससे इनका उत्साह और भी बढ़ गया। इनके बड़ों ने गणित के विशेष अध्ययन से इन्हें रोकना चाहा पर ये गणित के रंग में ऐसे रँग गए थे कि उस विद्या में पूर्ण पांडित्य प्राप्त किया। योंही ज्योतिष विषय पर बातें होते होते एक दिन इनका बापूदेव शास्त्री से कुछ झगड़ा हो गया जिससे दोनों में कुछ वैमनस्य हो गया। पं० बापूदेव शास्त्री के पीछे आप बनारस के संस्कृत कालेज में गणित और ज्योतिष के अध्यापक हुए और अंत काल तक उस पद पर सुशोभित रहे।

पंडित सुधाकर जी ज्योतिष और गणित के जैसे पंडित थे सो तो सब जानते हैं परंतु अपनी मातृभाषा हिंदी के भी आप अनन्य प्रेमी और बड़े विद्वान् थे। आप तुलसीदास, सूरदास, कबीर, तथा अन्यान्य भाषा के शिरोमणि कवियों के काव्यों में अच्छा प्रवेश रखते थे। आप ऐसी सरल हिंदी के पक्षपाती थे जो कि सहज ही सर्वसाधारण की समझ में आ सके। आपने सब मिलाकर हिंदी भाषा में कोई १७

पुस्तकें रचीं और सम्पादित की हैं। आप बाबू हरिश्चंद्रजी के प्रिय मित्रों में से थे।

सुधाकर जी की रहन सहन सादी, स्वभाव सीधा, और चाल सर्वप्रिय थी। आपका सिद्धांत था कि कोई छोटा बड़ा नहीं है। सब एक ही से जन्मते और एक ही से मरते हैं। ईश्वर ने जिसके शिर पर भार रख दिया है उसे अंत तक निवाह ले जाना ही बड़प्पन है। आप ने कुछ दिनों तक कींस कालेज में गणित के प्रोफ़ेसर का भी काम किया था, और अनेक वर्षों तक काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति रहे। आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर गवर्नमेंट ने आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से भूषित किया था। आपकी सुकीर्ति योरोप तक फैली थी।

आपका देहांत २८ नवंबर सन् १९१० को काशी में हुआ। पंडितजी ने मातृ-भाषा हिंदी की बहुत कुछ सेवा की पर अंत में कुछ कुचक्रियों के फेर में पड़ कर 'रामकहानी' नाम की पुस्तक लिख कर उसकी उन्नति के मार्ग में बाधा डाली।

———

(३०) बाबू देवकीनंदन खत्री ।

मुल्तान के दीवान तथा तालुक्केदार लाल नौनिद्धिराय एक बड़े भारी आदमी थे। उनकी कई पीढ़ी पीछे उनकी संतान के कई लोग लाहौर में आ बसे, परंतु राजा रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह के समय में जब लाहौर में एक प्रकार की अराजकता सी फैल गई तब लाला अचरजमल सपरिवार लाहौर छोड़ कर काशी में आ बसे।

लाला अचरजमल के दो पुत्र हुए, लाला नंदलाल और लाला ईश्वरदास। लाला नंदलाल के तीन लड़के हुए, बाबू देवीप्रसाद, बाबू भगवानदास और बाबू नारायणदास, और लाला ईश्वरदास के पुत्र हमारे चरित्रनायक बाबू देवकीनंदन हैं।

आपका जन्म संवत् १९१८ के आषाढ़ मास में हुआ था, माता आपकी मुज़फ्फ़रपुर के बाबू जीवनलाल महता की बेटी थीं इस कारण इनके पिता अक्सर वहीं रहा करते थे। इनका जन्म भी मुज़फ्फ़रपुर का है और वहीं इनका लालन पालन भी हुआ। कुछ वयोवृद्ध होने पर इनको पहिले हिंदी और फिर संस्कृत पढ़ाई गई, फ़ारसी भाषा से इन्हें स्वाभाविक प्रेम था परंतु इनके पिता की उस ओर बड़ी अरुचि थी इसी कारण ये बाल्यावस्था में तो फ़ारसी न पढ़ सके परंतु १८ वर्ष की अवस्था के अनंतर जब ये गयाजी में स्वतंत्र रहने लगे तो इन्होंने फ़ारसी और उसी के साथ साथ कुछ अँगरेज़ी का अभ्यास किया।

गया ज़िले के टिकारी राज्य में इनके पिता का व्यापारिक संबंध था। इसी कारण इन्होंने गया जी में एक कोठी खोली और वहाँ

बाबू देवकीनंदन खत्री ।
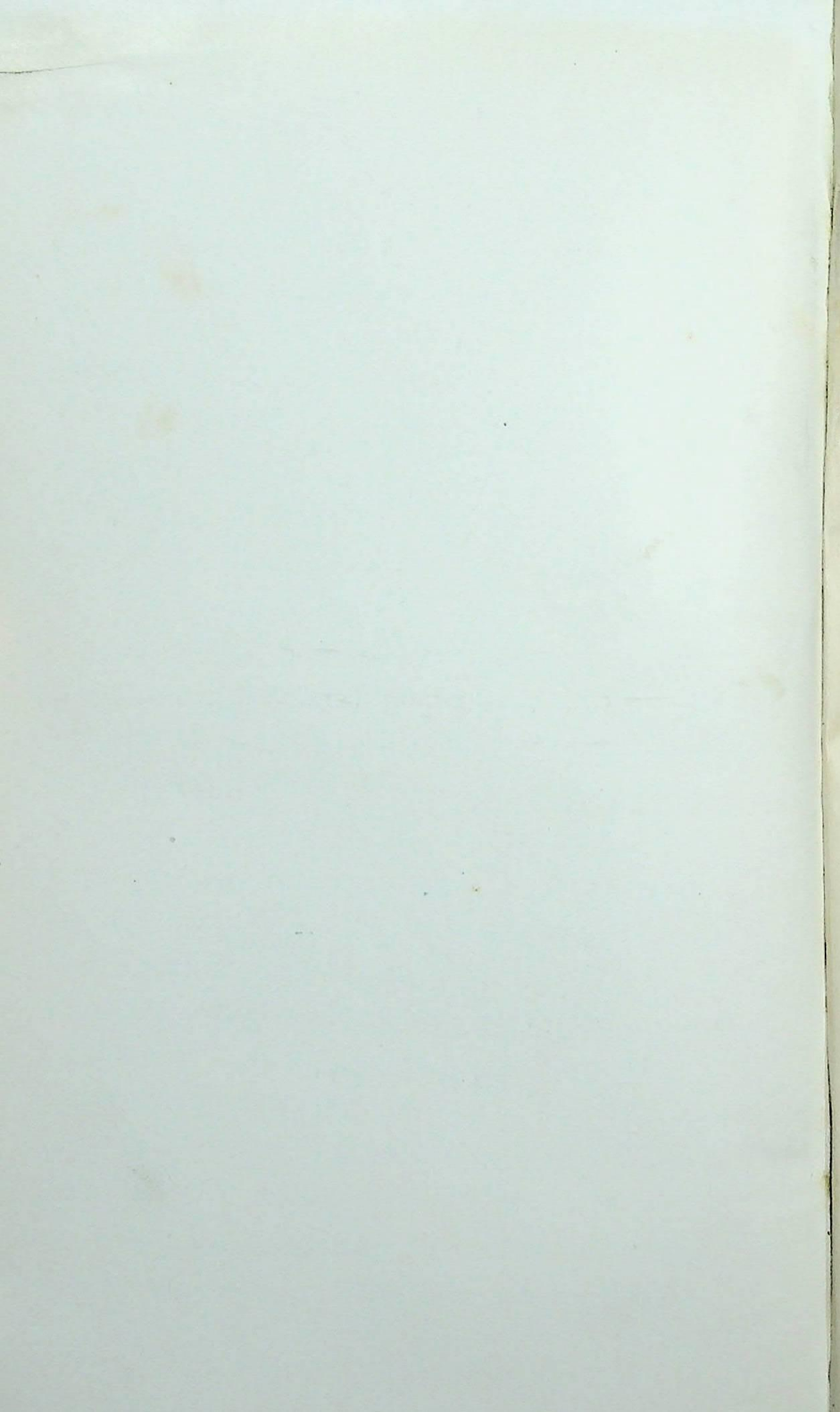
उसका स्वतंत्र प्रबंध करने लगे। वहाँ इनको अच्छी आमदनी थी, बस एक तो रुपया पास, दूसरे युवा अवस्था, तीसरे स्वतंत्रता, तीनों ने अपना चमत्कार दिखलाया और अपने पात्र से मनमाना नाच नचवाया। कुछ दिनों पीछे जब टिकारी राज्य में नाबालग़ी के कारण सरकारी प्रबंध हो गया और इनका उस राज्य से संबंध टूटा तो ये काशी चले आए, उस समय इनकी २४ वर्ष की अवस्था थी।

टिकारी राज्य में बनारस के राजा महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह की बहिन ब्याही थीं। इसी से ये बनारस में उक्त महाराज के कृपापात्र हुए। इन्होंने मुसाहब बन कर दरबार में रहना तो पसंद न किया परंतु चकिया और नवगढ़ के जंगलों का ठीका लिया। इन जंगलों की लाह लकड़ी तथा और और पैदावार की आमदनी इनको थी इसी कारण इनको सब जगह घूमना फिरना पड़ता था। इस अवस्था में इन्होंने जंगल की ख़ूब सैर की। उक्त जंगलों के बीहड़, वन, पहाड़ी, खोहें और प्राचीन इमारतों के अवशेष आदि दर्शनीय स्थान इन्होंने बड़ी सावधानी से देखे।

इसी समय इनको कुछ लिखने की धुन समाई और हिंदी में चंद्रकांता नामक उपन्यास लिखने का इन्होंने लग्गा लगा दिया। इस पुस्तक में इन्होंने अपने गया जी की जवानी के तजरुबे और काशी में आने पर अपनी आंखों देखी हुई जंगलों की बहार का वर्णन किया है। चंद्रकांता पहिले हरिप्रकाश प्रेस से छप कर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक सर्वसाधारण को बड़ी रुचिकर हुई यहाँ तक कि सैकड़ों आदमी इसी की बदौलत हिंदी के पाठक बन गए और कई एक को इसी की बदौलत हिंदी लिखने का शौक़ लग गया।

चंद्रकांता और संतति के ११ नंबर हरिप्रकाश प्रेस में छपे, इसके पीछे सन् १८६८ के सितंबर में आपने लहरी प्रेस, नाम से अपना

निज का प्रेस खोल लिया। इनके नरेंद्रमोहनी, कुसुमकुमारी, वारें-द्रवीर, काजर की कोठरी और भूतनाथ ये पाँच उपन्यास और भी हैं। ये सब निज कल्पना शक्ति से लिखे गए हैं। इन्होंने अपने निज के ख़र्चे से सुदर्शन नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो कि उस समय हिंदी में एक प्रसिद्ध मासिकपत्र था। सम्पादक इसके पंडित माधवप्रसाद मिश्र थे। परन्तु सम्पादक महाशय का देहांत हो जाने से सुदर्शन का भी अदर्शन हो गया।

बाबू देवकीनंदन ने हिंदी-साहित्य के एक अंग की पूर्ति में बहुत नाम पाया है और इसीसे उनके द्वारा हिंदी भाषा का भी बहुत उपकार हुआ है।

इन का देहांत १ अगस्त १९१३ को हो गया।
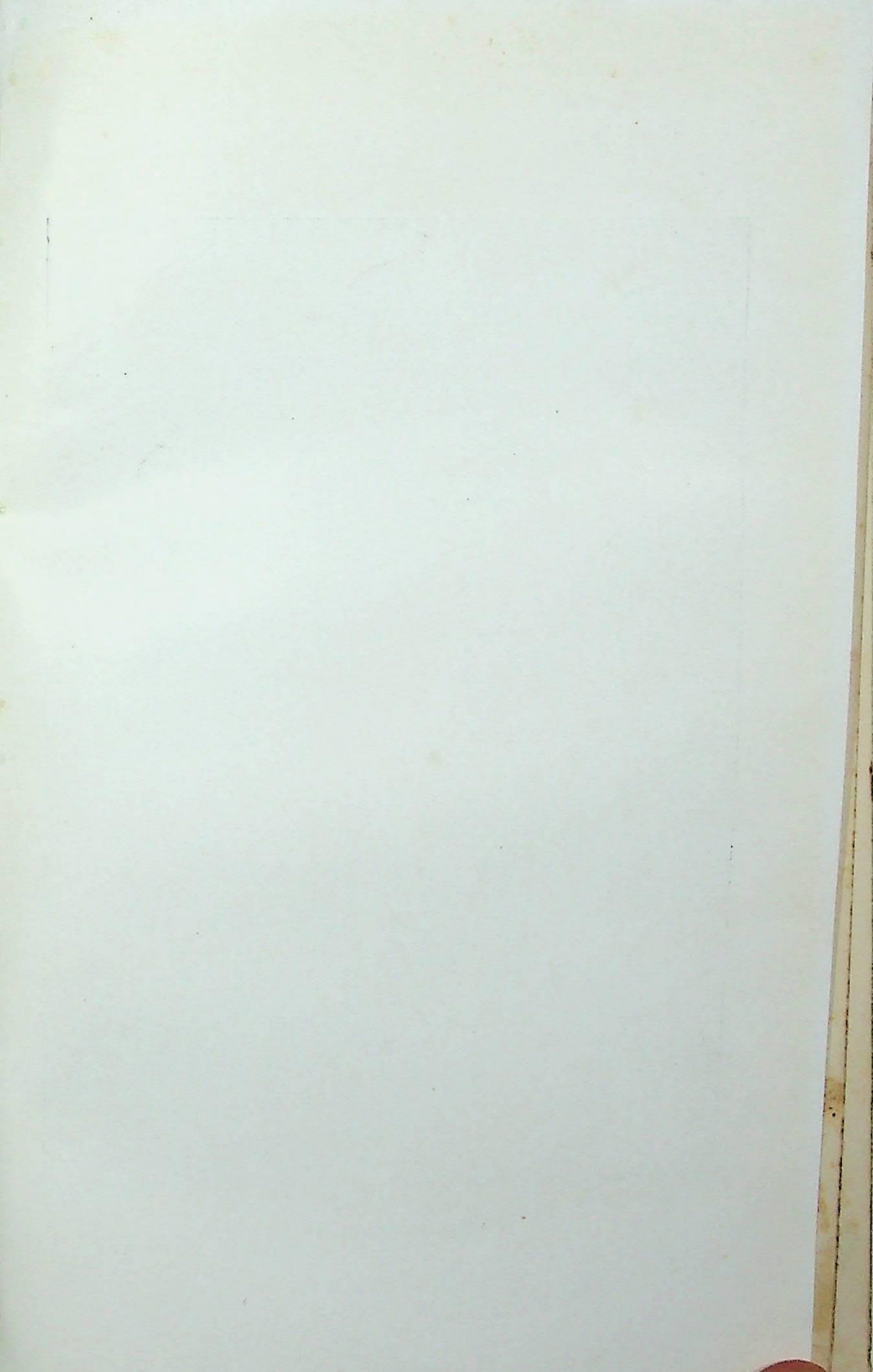
पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ।

(३१) पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ।

मुरादाबाद-निवासी पंडित ज्वालाप्रसाद जी का जन्म आषाढ़ कृष्ण २ संवत् १९१९ का है। आप मृत पंडित बलदेवप्रसाद जी के बड़े भाई हैं। इनके पूर्व पुरुष पहिले पटने में रहते थे पर अब बहुत दिनों से मुरादाबाद में आ रहे हैं। इनके पिता का नाम सुखनंदन मिश्र था। जिस दिन इनकी अवस्था का पाँचवाँ वर्ष पूरा हुआ ठीक उसी दिन इनको एक चोट्टा उठा कर ज़ंगल में ले गया। उसने इनका सब ज़ेवर तो उतार लिया पर कुशल हुई कि इन्हें जंगल में जीता छोड़ दिया। उस आधी रात्रि के समय न जाने किस पुरुष ने इन्हें लाकर थाने में बैठा दिया।

आठ वर्ष की अवस्था होने पर इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और उसी समय से इन्हें सर्वगुण आगरी नागरी का अध्ययन आरंभ कराया गया। इसके दो वर्ष पीछे इन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना आरंभ किया और उसे ये पाँच वर्ष तक पढ़ते रहे परंतु एक आर्य्यसमाजी मास्टर से धार्मिक वाद विवाद हो उठने के कारण इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और घर पर संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया। व्याकरण, काव्य, कोष आदि का अध्ययन कर लेने पर इन्होंने स्वयं अच्छे अच्छे ग्रंथों के पढ़ने का अभ्यास डाला जिससे संस्कृत-विद्या और हिंदू धर्मशास्त्र दोनों में इनकी अच्छी पैठ हो गई।

पंडित ज्वालाप्रसाद जी को सनातन धर्म पर स्वाभाविक श्रद्धा है इसीसे इन्होंने पहिले पहिल निज मत मंडन और दयानंद मत खंडन विषय पर "दयानंद तिमिरभास्कर" नाम की एक पुस्तक रची।

इस पुस्तक का सनातन-धर्मावलंबी लोगों में बड़ा आदर हुआ। इससे इनका उत्साह बढ़ गया और फिर ये पुस्तक-रचना में संलग्न हुए और लोगों की रुचि के अनुसार इन्होंने कई पुस्तकें रचीं।

कुछ दिनों के बाद आपके ध्यान में आया कि यदि संस्कृत-पुस्तकों का भाषानुवाद करके हिंदी-साहित्य का भंडार भरा जाय तो बहुत ही अच्छा हो। इससे मातृभाषा की उन्नति होगी और लोगों का उपकार भी होगा। यह विचार कर आप इस ओर झुके और आपने अब तक संस्कृत के ३० ग्रंथों का अनुवाद किया है। ये सब पुस्तकें प्रायः व्यंकटेश्वर प्रेस में छपी हैं। इन्होंने शुक्लयजुर्वेद पर मिश्र भाष्य नाम से भाषा-भाष्य रचा है। वह बड़ा ही विलक्षण और अपने ढंग का एक ही ग्रंथ है। इसके सिवाय इन्होंने जातिनिर्णय, अष्टादश पुराण, सीता-वनवास नाटक, भक्तमाल आदि भाषा के कई ग्रंथ स्वयं लिखे हैं। आप सनातन हिंदू धर्म के सच्चे पक्षपाती और हितेच्छु हैं इस लिये आप धार्मिक विषय पर व्याख्यान देने की भी अच्छी शक्ति रखते हैं। आप पंजाब में पेशावर तक, दक्षिण में हैदराबाद तक व्याख्यान देते हुए समय समय पर देशाटन किया करते हैं। आपने कई एक सभाओं में आर्यसामाजिक पंडितों से शास्त्रार्थ करके जय पाई है।

इन्हीं सब कारणों से भारतधर्म-महामंडल में इनका बड़ा मान है। वहाँ से इन्हें विद्यावारिधि और महोपदेशक का पद प्राप्त है। कलकत्ते के कान्यकुब्ज-मंडल से आपको एक स्वर्णपदक भी मिला है।

इस समय आप मुरादाबाद में रहते हैं। निज व्यय से चलने वाली कामेश्वरनाथ नाम की पाठशाला में आप पढ़ाते हैं और जो शेष समय बचता है उसमें संस्कृत के ग्रंथों का भाषानुवाद करके अपने अमूल्य जीवन को सदुपयोग में लगा रहे हैं।

---

(३२) आनरेब्ल पंडित मदनमोहन मालवीय बी० ए०, एलएल० बी० ।

इनके पूर्व पुरुष मालवा देश के निवासी थे इसीसे ये और इनके कुटुंब के लोग मालवी उपाधि से भूषित हैं। कोई तीन सौ वर्ष हुए होंगे कि इनके पूर्वज मालवा देश छोड़ कर इलाहाबाद में आबसे। मालवीयजी के पूर्वजों में एक न एक पुरुष विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध होता आया है।

पंडित मदनमोहन मालवीय जी के पिता का नाम पंडित बैजनाथ मालवीय था। ये कोई पाँच वर्ष हुए स्वर्गलोक को पधारे हैं और संस्कृत के अच्छे पंडित थे। मालवीयजी का जन्म सन् १८६२ में तारीख़ १८ दिसंबर को हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा हिंदी में घर ही पर हुई। जब ये हिंदी भली भाँति लिखने पढ़ने लगे तब अँगरेज़ी पढ़ने के लिये गवर्नमेंट स्कूल में बैठाए गए। वहाँ एँट्रेंस की परीक्षा पास करके इन्होंने म्योर सेंट्रल कालेज में नाम लिखाया और सन् १८८४ ई० में वहीं से बी० ए० की परीक्षा पास की।

बी० ए० की परीक्षा पास कर चुकने पर इच्छा होने पर भी कई कारणों से वे आगे न पढ़ सके और उसी वर्ष गवर्नमेंट स्कूल में अध्यापक नियत हुए। इन्होंने इस पद पर तीन वर्ष तक बड़ी योग्यता से काम किया। सन् १८८७ ई० में कालाकांकर के तअल्लुक़ेदार राजा रामपाल सिंहजी इन्हें अपने यहाँ लिवा ले गए और अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले हिंदी भाषा के दैनिक पत्र हिंदोस्थान का सम्पादन

इनके हाथ में दिया। इन्होंने हिंदोस्थान की उन्नति करने में यथासाध्य परिश्रम किया और विलक्षण दक्षता के साथ ढाई वर्ष तक उसका सम्पादन किया। यद्यपि मालवीयजी ने हिंदी में कोई विशेष ग्रंथ नहीं लिखा है परंतु हिंदोस्थान की पुरानी फ़ाइलें देखने से ज्ञात होता है कि ये मातृभाषा हिंदी के कैसे अच्छे लेखक हैं। इनकी ओजस्विनी और सरल लेखप्रणाली पाठकों के चित्त पर पूरा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली है।

ढाई वर्ष तक हिंदोस्थान का सम्पादन करने के बाद आपकी इच्छा क़ानून अध्ययन करने की हुई। यह जान कर राजा रामपालसिंह ने इन्हें अपने यहाँ से प्रसन्नतापूर्वक रुख़सत दी और इनके क़ानून के अध्ययन में यथासाध्य सहायता दी। तीन वर्ष क़ानून पढ़ कर इन्होंने सन् १८९१ में हाईकोर्ट की परीक्षा पास की और अगले वर्ष सन् १८९२ में एलएल० बी० की उपाधि प्राप्त की। तब से अब तक आप इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करते हैं और अपने देश तथा देश-भाइयों के हित की चिंतना में तत्पर रहते हुए अपने मनुष्य-जीवन को सफल कर रहे हैं।

मालवीयजी हिंदी भाषा के ग्रंथकार नहीं पर हिंदी के अच्छे लेखक और सच्चे शुभचिंतक हैं। आप काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के एक सम्मानित सदस्य हैं। सर एंटनी मेकडानल के समय में जब कि संयुक्त प्रदेश की प्रजा की ओर से प्रांतीय गवर्नमेंट की सेवा में अदालतों में नागरी लिपि का प्रचार करने की प्रार्थना की गई थी उस समय आपने इस कार्य में विशेष उद्योग किया था, वरन यह कहना चाहिए कि इस कार्य में सफलता केवल आपही के परिश्रम का फल है। लाट साहब की सेवा में नागरी मेमोरियल का भेजना, नागरी के सच्चे गुणों के कीर्तन में पुस्तक लिखना और स्वार्थ-शून्य हो निज के

हज़ारों रूपए ख़र्च कर इसी कार्य्य में लग जाना पंडितजी के लिये एक बड़े गौरव की बात है।

मालवीयजी एक सादे मिज़ाज और सादी रहन सहन के व्यक्ति हैं और बड़े मिलनसार और सच्चरित पुरुष हैं। आप इस प्रांत के प्रधान राजनैतिक पुरुषों में से हैं और अपना बहुत कुछ समय देश-सेवा में लगाते हैं। आप सनातन हिंदू धर्म को हृदय से मानते और उसकी उन्नति में तन मन से दत्तचित्त रहते हैं। आपने प्रयाग में एक सनातन-धर्म-सभा स्थापित की है जिसका प्रतिवर्ष माघ मेले के अवसर पर त्रिवेणी के तट बृहदधिवेशन होता है। परंतु इसके साथ ही आप सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के भी पूरे पक्षपाती हैं। आपके उद्योग से प्रयाग में एक बड़ा सुंदर हिंदू बोर्डिंग हाउस बना है। इस समय आप काशी में हिंदू-विश्वविद्यालय के स्थापित करने में प्राण-पण से लगे हुए हैं। आप लाट साहिब की कौंसिल के सभासद् हैं और देशवासियों के पक्ष-समर्थन में सदा दत्तचित्त रहते हैं।

---

(३३) पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

हिंदी के इतिहास-मर्मज्ञ विद्वानों में पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का आसन ऊँचा है। इन्होंने हिंदी की सेवा के उद्देश्य से जो जो ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी हैं उन सब की बड़े बड़े विद्वानों ने मुक्त-कंठ प्रशंसा की है।

इनके पूर्वज मेवाड़ के रहने वाले थे। कोई २२५ वर्ष हुए होंगे कि वे लोग सिरोही राज्यांतर्गत रोहिड़ा ग्राम में जा बसे। यहीं १५ सितंबर सन् १८६३ में ओझाजी का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम हीराचंद और दादा का पीतांबर था। ये जाति के सहस्र औदीच्य ब्राह्मण हैं। सात वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक पाठशाला में हिंदी पढ़ना आरंभ किया। दो वर्ष हिंदी अध्ययन करते रहे। अनंतर आठ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत संस्कार होने पर वेदाध्ययन आरंभ किया। चार वर्ष में संपूर्ण शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता कंठाग्र करके गणित पढ़ना प्रारंभ किया। पर किसी उपयुक्त गुरु के न मिलने से ओझाजी १४ वर्ष की अवस्था में बंबई चले गए और वहाँ पहिले ६ महीने तक गुजराती भाषा सीखते रहे। अनंतर एलिफ़ंस्टन हाई स्कूल में भरती हो कर सन् १८८४ में मेट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की। इसके साथ ही साथ प्रसिद्ध पंडितवर गट्टूलालजी के यहाँ संस्कृत और प्राकृत पढ़ते रहे। सन् १८८६ ई० में विलसन कालेज में इन्होंने प्रीवियस परीक्षा की पढ़ाई प्रारंभ की। पर शरीर की अस्वस्थता के कारण परीक्षा के पूर्व ही अपने ग्राम रोहिड़े को लौट आए। फिर कुछ काल के पीछे बंबई
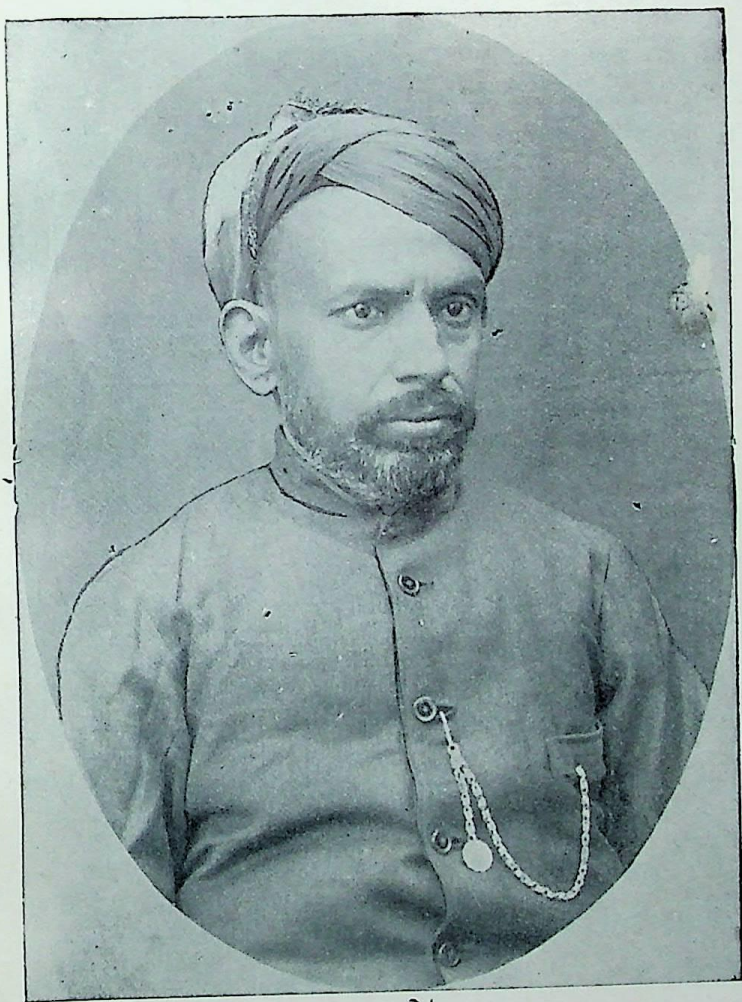
पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ।

जाकर प्राचीन लिपियों के पढ़ने और प्राचीन इतिहास के अध्ययन में इन्होंने अपना दो वर्ष का समय लगाया। सन् १८८८ ई० में जब ये अपनी बहिन से मिलने उदयपुर आए तो महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदासजी ने इनके गुणों से प्रसन्न होकर इन्हें अपने इतिहास-कार्यालय का मंत्री नियत किया। सन् १८९० ई० में विक्टोरिया हाल खुलने पर ये वहाँ की म्यूज़ियम लायब्रेरी के अध्यक्ष नियत हुए और अब अजमेर में जो नया सर्कारी म्यूज़ियम खुला है उसकी अध्यक्षता के कार्य पर नियत हैं।

सन् १८९३ ई० में इन्होंने हिंदी में एक अपूर्व ग्रंथ लिखा। प्राचीन इतिहास-उद्धार के लिये प्राचीन लिपियों का पढ़ना बड़ा आवश्यक है परंतु इस काम के लिये किसी भाषा में कोई पुस्तक न थी। पंडितजी ने प्राचीन लिपिमाला नाम की पुस्तक लिख कर इस अभाव की पूर्ति की। इस पुस्तक की बड़े बड़े विद्वानों तथा सोसाइटियों ने असाधारण प्रशंसा की है। सन् १९०२ ई० में इन्होंने कर्नल टाड का जीवन-चरित्र लिखा और टाड साहब-लिखित राजस्थान के अनुवाद पर टिप्पणी लिखना प्रारंभ किया। यह दूसरा ग्रंथ छप रहा है और जिन लोगों ने इसके छपे हुए भागों को देखा है वे पंडितजी की विद्वत्ता का अनुभव कर सकते हैं। आपने अब एक ऐतिहासिक ग्रंथ-माला नाम की पुस्तकावली छापना प्रारंभ किया है। इसके पहिले भाग में सोलंकियों का इतिहास है। सिरोही राज्य का भी इतिहास आपने लिखा है। इस समय आप पृथिवीराजविजय नामक ऐतिहासिक काव्यग्रंथ के सम्पादन में लगे हुए हैं। यह ग्रंथ इतिहास का अमूल्य रत्न है। प्राचीन शोध का पंडितजी को बड़ा व्यसन है। वे अपना सारा समय इसके अर्पण करते हैं। प्राचीन स्थानों को देखना, उनका इतिहास जानना, प्राचीन वस्तुओं का संग्रह करना बस इन्हीं

में आपका कालक्षेप होता है। प्राचीन सिक्कों का एक बहुमूल्य संग्रह आपने किया है।

पंडितजी का उदयपुर राज्य में बड़ा मान था और ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भी आपके गुणों पर रीझ कर अनेक बेर अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है। उदयपुर में जितने वाइसराय गए हैं उनसे मिलने और बातें करने का पंडितजी को सदा गौरव प्राप्त हुआ था। कुछ वर्ष हुए कलकत्ते में एक म्यूज़ियम कान्फ़रेंस गवर्नमेंट की तरफ़ से हुई थी उसमें पंडितजी निमंत्रित हो कर गए थे।

आप प्रकृति के सरल और अभिमान-रहित हैं और बड़े सतोगुणी और सच्चरित्र हैं। जिन्हें एक बेर भी आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे आपके गुणों और स्वभाव पर मोहित हैं। आपसे विद्वान हिंदी-समाज के गौरव तथा अभिमान के कारण हैं।
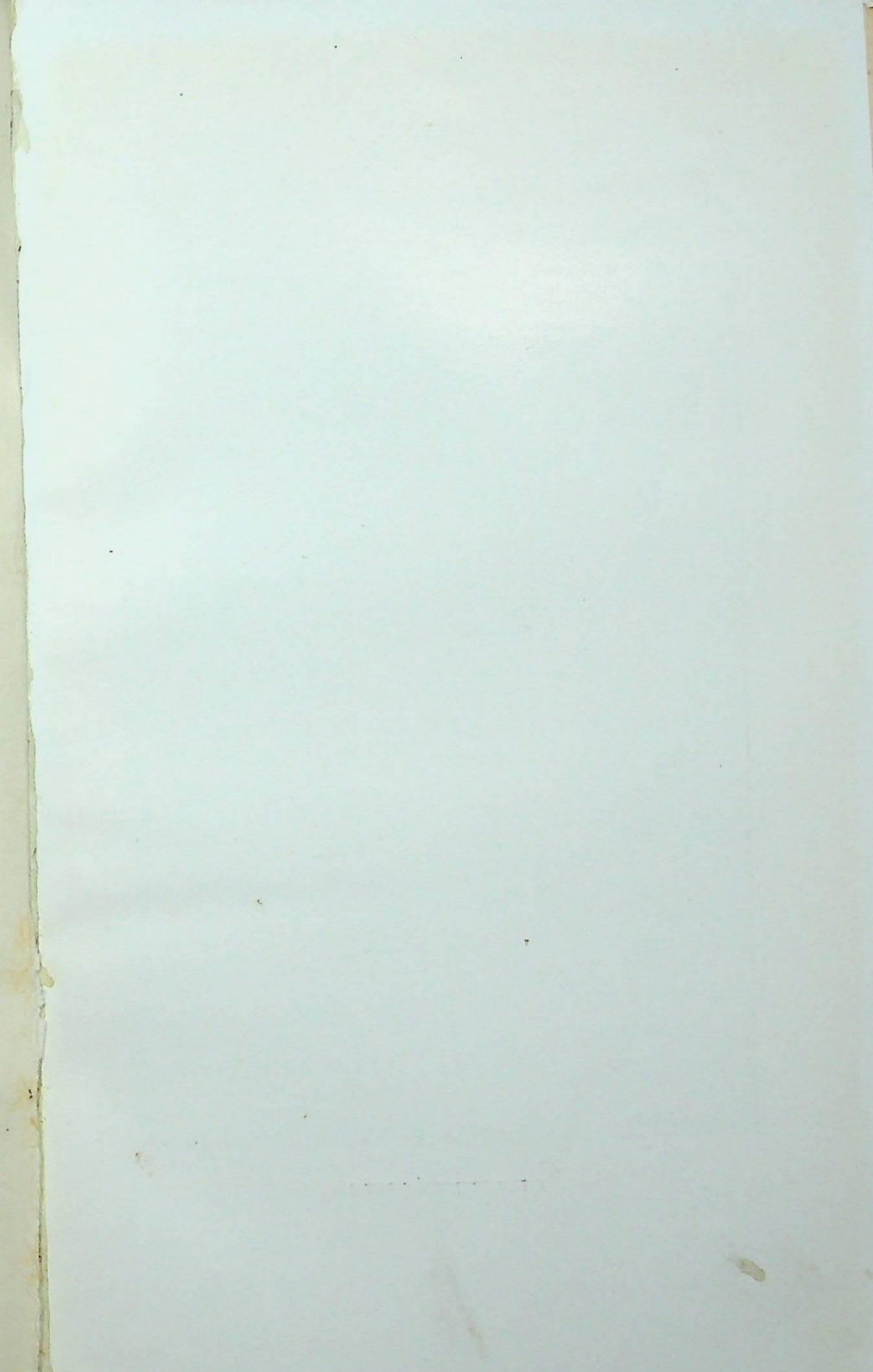
लाला बालमुकुंद गुप्त ।

(३४) लाला बालमुकुंद गुप्त।

लाला बालमुकुंद गुप्तजी अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म सन् १८६५ ई० में पंजाब के रोहतक ज़िले के गुरयानी नामक ग्राम में हुआ था।

पंजाब प्रांत में इस समय हिंदी की जो कुछ थोड़ी बहुत चरचा है सो आर्यसमाज की बदौलत है परंतु जिस समय गुप्तजी की बाल्यावस्था थी उस समय तो वहाँ हिंदी का काला अक्षर भैंस बराबर था। गुप्तजी को बाल्यावस्था में केवल उर्दू फ़ारसी की शिक्षा दी गई थी। वय: प्राप्त होने पर आपने हिंदी का अध्ययन अपने शौक़ से किया था। इनको अच्छे अच्छे मज़मून लिखने का अभ्यास बालकपन से ही था। जब आप घर पर थे तभी लखनऊ के अवध अख़बार, और अवध पंच, लाहौर के कोहनूर, मुरादाबाद के रहबर, और स्यालकोट के विक्टोरिया पेपर आदि अख़बारों में लेख लिखा करते थे। इसलिये इनका नाम तभी से लेखकों में प्रसिद्ध था।

अस्तु, चुनार के प्रसिद्ध रईस बाबू हनुमानप्रसाद ने जब चुनार से "अख़बारे चुनार" जारी किया तो इन्होंने लाला बालमुकुंद को बुलाकर उसका सम्पादक नियत किया। इन्होंने अख़बारे चुनार को ऐसी योग्यता से चलाया कि उसे संयुक्त प्रांत के सब अख़बारों में सिरे कर दिया परंतु कुछ दिनों पीछे गुप्तजी लाहौर को चले गए और वहाँ सप्ताह में तीन बार निकलने वाले "कोहनूर" के सम्पादक हुए। कुछ दिनों में आपने उस पत्र को दैनिक कर दिया।

उन्हीं दिनों कालाकांकर के राजा रामपालसिंह जी ने इँगलैंड से आकर "हिंदी हिंदोस्थान" पत्र जारी कर दिया था। पंडित

मदनमोहन मालवीय उसके सम्पादक थे। वृंदावन में श्री भारतधर्म-महामंडल के अधिवेशन में मालवीय जी गए थे और गुप्त जी भी वहाँ आए थे। पंडित दीनदयालु शर्म्मा द्वारा दोनों महाशयों का परस्पर परिचय हुआ। अस्तु, जब मालवीय जी हिंदोस्थान का सम्पादन छोड़ने लगे तब इन्होंने गुप्त जी को कालाकांकर में बुलाकर सहकारी सम्पादकों में नियत करवाया। राजा साहब स्वयं सम्पादक थे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित राधारमण चौबे, चौबे गुलाबचंद, पंडित रामलाल मिश्र, बाबू शशिभूषण चैटर्जी, पंडित गुरुदत्त शुक्ल और बाबू गोपालराम आदि लेखकों की कमेटी उनकी सहायक थी और लाला बालमुकुंद गुप्त उस कमेटी के सभापति या मुखिया थे।

कुछ दिनों के बाद गुप्त जी कालाकांकर से घर को चले गए। इनके जाते ही उक्त नवरत्न कमेटी तीन तेरह हो गई। उन्हीं दिनों कलकत्ते में हिंदी-बंगवासी का जन्म हुआ। जिस समय काशी में भारतधर्म-महामंडल का अधिवेशन हुआ तो बंगवासी के मालिक वहाँ आए थे। गुप्त जी भी घर से आकर इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। यहीं बंगवासी के मालिक से और इनसे परिचय हो गया। उन्हीं दिनों हिंदी बंगवासी में "शिक्षित हिंदू बाला" नाम का एक उपन्यास निकलता था। जब गुप्त जी काशी से लौट कर घर आए तो इन्होंने उक्त उपन्यास की समुचित समालोचना करते हुए बंगवासी सम्पादक बाबू अमृतलाल चक्रवर्ती को एक पत्र लिखा। उसके उत्तर में उन्होंने गुप्त जी की कृतज्ञता प्रकट की और इन्हें कलकत्ते बुला कर अपना सहकारी नियत किया। यह बात सन् १८९३ ई० की है।

कुछ दिनों के बाद गुप्त जी बंगवासी के सम्पादक हुए। वहाँ सात वर्ष तक आपने बड़ी योग्यता से काम किया परंतु जब बंगवासी

के मालिकों में परस्पर झगड़ा पैदा हुआ तो इन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया और घर को चले गए। घर पहुँचे देर न हुई थी कि भारतमित्र के मालिक ने इन्हें कलकत्ते बुला लिया और भारतमित्र का सम्पादन-भार इनको दिया। तब से जीवन-लीला के समाप्त होने तक इन्होंने भारतमित्र का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। लाला बालमुकुंद गुप्त का परलोकवास सन् १९०७ भाद्र शुक्ला ११ बुधवार को देहली में हुआ। गुप्त जी एक बड़े ही चतुर और बुद्धिमान् पुरुष थे। इनके लिखे हुए पुस्तकाकार लेखों में तो केवल रत्नावली-नाटिका, हरिदास, शिवशम्भु का चिट्ठा, स्फुट कविता और खिलौना आदि पुस्तकें हैं। आप की लेख-प्रणाली बड़ी ही उत्तम थी। आप अच्छे समालोचक थे। इनके सब लेख प्रभाव-जनक होते थे। इनकी भाषा बड़ी ही सरल और मनोहर होती थी।

---

(३५) पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय अगस्त्य गोत्रीय और शुक्ल यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम पंडित भोलासिंह उपाध्याय था। आदि में इनके पूर्व पुरुष बदाऊँ के रहनेवाले थे परंतु लगभग तीन सौ वर्ष से वे आज़मगढ़ से दक्षिण पश्चिम तमसा कूल पर स्थित क़सबा निज़ामाबाद में आ बसे हैं। पंडित अयोध्यासिंह का जन्म संवत् १९२२ में हुआ।

पंडित अयोध्यासिंह के चचा ब्रह्मासिंह एक अच्छे पंडित और सच्चरित्र पुरुष थे। उन्होंने इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था से घर पर विद्याध्ययन प्रारंभ करा दिया और सात वर्ष की अवस्था होने पर निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में भरती करा दिया। वहाँ इन्होंने सन् १८७९ ई० में वर्नाक्यूलर मिडिल की परीक्षा पास की और वहाँ से मासिक छात्रवृत्ति पाकर बनारस के क्वींस कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने लगे परंतु स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण इन्हें थोड़े ही दिनों में घर चला जाना पड़ा और फिर अँगरेज़ी की शिक्षा का अंत ही हो गया।

घर पर रह कर इन्होंने चार पाँच वर्ष तक उर्दू फ़ारसी और संस्कृत का अभ्यास किया। सत्रह वर्ष की अवस्था में इनका ब्याह हुआ और इसके दो वर्ष बाद सन् १८८४ ई० में इन्होंने निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक पद पर नियत होकर कार्य्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। इसी समय में इन्होंने कचहरी के काम काज का अभ्यास किया और सन् १८८७ ई० में नार्मल परीक्षा पास की।

निज़ामाबाद में बाबा सुमेरसिंह नामक सिक्ख संप्रदाय के एक साधु रहते थे। वे एक अच्छे विद्वान् पुरुष और हिंदी भाषा के कवि थे। एक दिन बाबा जी के यहाँ कवि और विद्वान् लोगों की एक सभा हुई। उसमें हमारे चरित-नायक भी पधारे और इन्होंने दो एक प्रश्नों का ऐसी उत्तम रीति से उत्तर दिया कि जिससे बाबाजी इन पर बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार बाबाजी के कृपापात्र होने पर इन्हें उनके पुस्तकालय के भाषा-ग्रंथ देखने का अच्छा अवसर हाथ लगा। इसी समय बाबू हरिश्चंद्रजी का कवि-वचन-सुधा भी प्रकाशित होने लगा था। अस्तु, बाबा जी के यहाँ के भाषा-साहित्य-संबंधी भिन्न भिन्न विषयों के ग्रंथ और समाचार-पत्रों में सामयिक साहित्य के पठन पाठन से आप के हृदय में भी ग्रंथ-रचना का उत्साह और मातृभाषा प्रति अनन्य अनुराग उमड़ आया।

पंडित अयोध्यासिंह जी ने मदरसों के डिप्टी इंस्पेक्टर बाबू श्यामसनोहर दास के आज्ञानुसार पहिले पहिल काशी-पत्रिका में प्रकाशित वेनिस का बाँका और रिपुवान विंकल का उर्दू से हिंदी में अनुवाद किया। उक्त पत्रिका के कुछ स्फुट निबंधों का भी आप ने हिंदी-अनुवाद किया और उनके संग्रह का "नीति-निबंध" नाम रक्खा। तदनंतर गुलज़ार-दबिस्तां का भाषानुवाद कर के विनोद-वाटिका नाम रक्खा और गुलिस्तां के आठवें बाब का "नीति उपदेश-कुसुम" नाम से अनुवाद किया।

वेनिस के बांके की पंडित प्रतापनारायण ने अपने पत्र ब्राह्मण में अच्छी समालोचना की थी। उसे पढ़ कर मातृभाषा के प्रेमी, आज़मगढ़ के क़ानूनगो बाबू धनपतसिंह का ध्यान लेखक की तरफ़ गया। उन्होंने इन्हें क़ानूनगोई की परीक्षा पास कर लेने की सलाह दी। तदनुसार इन्होंने सन् १८८९ ई० में उक्त परीक्षा पास

की और अगले वर्ष क़ानूनगोई का स्थायी पद प्राप्त किया। तब से अब तक आपने समय समय पर रजिस्ट्रार क़ानूनगो, सदरनायब क़ानूनगो और गिरदावर क़ानूनगो आदि कई पदों पर काम किया है। इस समय आप आठ साल से आज़मगढ़ के आफ़िशियेटिंग सदर क़ानूनगो के पद पर हैं।

उपाध्यायजी बँगला भाषा में भी प्रवीण हैं। आपने बँगला की कई एक पुस्तकों का भाषानुवाद किया है। आपकी खड्गविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीनसिंहजी से बड़ी मित्रता थी। उन्हीं के अनुरोध से आपने "ठेठ हिंदी का ठाठ" और "अधखिला फूल" की रचना की थी जिसमें ठेठ हिंदी का ठाठ इस समय सिविल सर्विस परीक्षा के कोर्स में है। आपने हिंदी भाषा में सब मिलाकर २३ पुस्तकों की रचना की है।
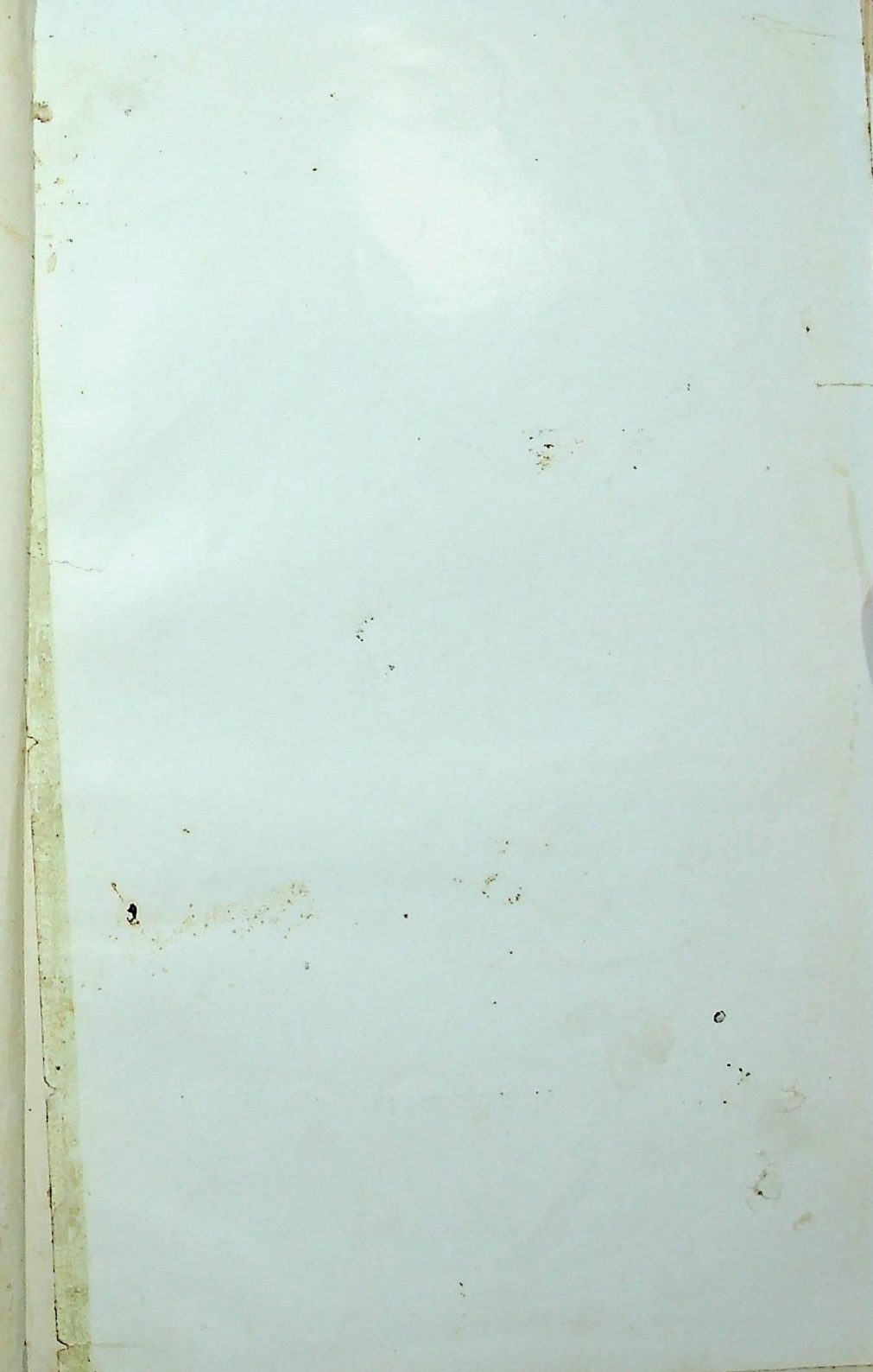
बाबू राधाकृष्णदास।

(३६) बाबू राधाकृष्णदास।

बाबू राधाकृष्णदासजी गोलोकवासी भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी के फुफेरे भाई थे। बाबू हरिश्चंद्रजी के पिता बाबू गोपालचंद की दो बहिनें थीं, बड़ी यमुना बीबी और छोटी गंगा बीबी। बाबू राधाकृष्णदास गंगा बीबी के दूसरे पुत्र थे। इनके पिता का नाम बाबू कल्याणदास था और बड़े भाई का नाम जीवनदास।

बाबू राधाकृष्णदास का जन्म श्रावण सुदी पूर्णिमा संवत् १९२२ में हुआ था। जब इनकी अवस्था केवल १० महीने की थी तब इनके पिता का परलोकवास हो गया। इसके थोड़े ही दिनों पीछे इनके बड़े भाई का भी देहांत हो गया। इससे बाबू हरिश्चंद्रजी ने अपनी फूफी को अपने घर बुला लिया। उन्हींके निरीक्षण में इनका लालन पालन हुआ और उन्हींके प्रबंध से इनकी शिक्षा आरंभ हुई। हिंदी और उर्दू की साधारण शिक्षा घर पर हो जाने के अनंतर ये स्कूल में बैठाए गए। परंतु ये बालकपन से ही रोगग्रस्त रहा करते थे इसीसे कभी नियमपूर्वक अध्ययन न कर सके। फिर भी बाबू साहब के सुप्रबंध से इन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था तक अँगरेज़ी में एँट्रेंस क्लास तक पढ़ लिया और साथ ही साथ हिंदी, उर्दू, फ़ार्सी और बँगला भाषा में भी अच्छी योग्यता प्राप्त करली। पीछे से इन्होंने गुजराती भाषा का भी अभ्यास कर लिया था। इनका यह विद्याभ्यास उदरपोषण के लिये नहीं था वरन् मातृ-भाषा हिंदी की सेवा के लिये था। इसलिये इतना ही बहुत था।

बाबू राधाकृष्णदास हिंदी-साहित्याकाश के एक शुभ नक्षत्र थे। इन्होंने हिंदी-साहित्य की जैसी कुछ सेवा की किसी साहित्य-सेवी को अविदित नहीं है। इन्होंने जितनी पुस्तकों की रचना की सब एक से एक उत्तम और प्रभाव-जनक हैं। पुस्तक-रचना के लिये इन्हें बाबू हरिश्चंद्रजी ने स्वयं उत्साह दिलाया था वरन् अपने सामने ही इनसे लिखवाना भी आरंभ करा दिया था। इनकी सबसे पहिली रचना "दुःखिनी बाला" है। इसके बाद "निस्सहाय हिंदू" "महारानी पद्मावती" "प्रताप नाटक" आदि २५ पुस्तकें इन्होंने रचीं। गद्य लेख लिखने के सिवाय आप काव्य में भी अच्छी पैठ रखते थे और स्वयं सरस और भावपूर्ण कविता करते थे। इन्होंने कविता में कोई पृथक् ग्रंथ तो नहीं रचा परंतु स्वरचित गद्य पुस्तकों में यथासमय जो कहीं कहीं पर पद्य दिए हैं उन्हींसे इनकी काव्य-कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के नेताओं में बाबू राधाकृष्णदास मुख्य थे। सन् १८९४ ईसवी में जब कि इस सभा की शिशु अवस्था थी सबसे पहिले आप ही उसमें सम्मिलित हुए थे और अपने अंतिम समय तक सभा की पूर्ण रूप से सहायता करते रहे। सभा-भवन के बनवाने में इन्होंने बड़ा उत्साह दिखलाया था और उसके लिये बहुत कुछ उद्योग किया था। सभा के स्थायी कोश के लिये चंदा उगाहने को सभा के डेपुटेशन के साथ घर के हज़ारों काम छोड़ कर और शरीर दुखी रहने पर भी बाबू राधाकृष्णदास कई जगह गए थे। दफ़्तरों में नागरी लिपि जारी कराने के लिये जो डेपुटेशन संयुक्त प्रांत के छोटे लाट के पास गया था उसमें भी आपने बहुत उद्योग किया था। नागरीप्रचारिणी सभा में जब कोई हाकिम अफ़सर आता था तब उसके लिये आप ही कविता में एड्रेस बना कर देते थे। सभा

पर इनका इतना स्नेह था कि मरते समय भी ये उसे नहीं भूले। अपनी लिखी हुई कुल पुस्तकों का स्वत्व सभा के नाम वसीयत कर गए हैं।

बाबू राधाकृष्णदास आजीविका के लिये अपने एक मित्र के साझे में ठीकेदारी का काम करते थे। हाल में जो कई एक अच्छी अच्छी इमारतें काशी में बनी हैं वे आप ही के प्रबंध से बनी हैं। आपके नाम से चौखम्भे में एक दुकान भी चलती है। आप राधा-वल्लभीय संप्रदाय के दृढ़ वैष्णव थे। परंतु वास्तव में किसी मतमतांतर से द्वेष नहीं रखते थे। आप एक बड़े सच्चरित्र, शील स्वभाव और मिलनसार पुरुष थे। क्रोध और कुचाल का तो आप में लेश मात्र भी न था। सर्वसाधारण में आपका जैसा आदर था वैसा ही जातिवालों में भी था। काशी के अग्रवाले मात्र आप की बात मानते थे वरन् यों कहना चाहिए कि एक प्रकार से आप अग्रवाल-समाज के चौधरी थे। इनका देहांत ४२ वर्ष की अवस्था में तारीख़ २ अप्रैल सन् १६०७ को हुआ।

---

(३७) पंडित किशोरीलाल गोस्वामी।

जिला मथुरा, इलाक़ा शेरपुर, परगना छाता के अंतर्गत गांव वसई .ख़ुर्द के माफ़ीदार और वृंदावन केशीघाटस्थ श्री ठाकुर अटलविहारीजी के मंदिर के स्वत्वाधिकारी एवं सेवाधिकारी तथा श्रीमद्भगवन्निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य्य श्रीस्वयम्भूदेवजी के वंशधर राजमान्य श्रीमद्गोस्वामी केदारनाथजी वृंदावन में एक बड़े विद्वान् पुरुष हो गए हैं। जिन्हांने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भष्य तथा श्रीमद्भागवत पर तिलक निर्माण किए हैं।

उक्त गोस्वामी महोदय के पुत्र गोस्वामी वासुदेवलालजी यद्यपि अपने पिता के समान बहुत बड़े विद्वान् नहीं हुए पर तोभी बहुत कुछ थे; क्योंकि इनकी जीवनसंवंधी घटनाएं अद्भुत और रहस्यपूर्ण हैं। इनकी प्रथम सहधर्मिणी की अकाल मृत्यु हो जाने पर इनका दूसरा विवाह काशी के श्रीगोस्वामी कृष्णचैतन्यदेवजी की कन्या से हुआ, जिनसे हमारे चरितनायक का जन्म संवत् १९२२ माघकृष्ण अमावास्या को हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था होने पर आपका यज्ञोपवीत हुआ और उसी समय विद्यारम्भ कराया गया। इन्होंने संस्कृत में व्याकरण, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग और ज्योतिष की प्रथम परीक्षा तक के ग्रंथ पढ़े और साहित्य में आचार्य्य परीक्षा तक के। इनके पिता कुछ दिनों तक आरे में रह आए थे, ये भी उन्हीं के साथ में थे। इन्होंने पंडित पीतांबर मिश्रजी तथा पंडित रुद्रदत्तजी से व्याकरण आदि कई ग्रंथ पढ़े थे। और आरे में आर्य्यपुस्तकालय की स्थापना की और सुप्रसिद्ध पंडितवर बालगोविंद त्रिपाठीजी से वर्णधर्मोपयोगिनी

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ।

सभा स्थापित करवाई। ये इन दोनों के मंत्री थे। और वहाँ पर इन्होंने कुरमी जाति की वर्णव्यवस्था पर संस्कृत में एक पुस्तक लिखी थी जो 'विज्ञ वृंदावन' नामक पत्र में छपा करती थी।

इन्होंने वर्णधर्मोपयोगिनी सभा द्वारा एक पाठशाला स्थापित करवाई थी और उसी सभा के प्रतिनिधि होकर संवत १९४७ में भारतधर्ममहामण्डल में सम्मिलित होने के लिये दिल्ली गए। वहाँ से आकर फिर ये काशी में बसने लगे। बाबू हरिश्चंद्र इनके मातामह के साहित्य के शिष्य थे। इस संबंध से उनके यहाँ इनकी प्रायः अधिक बैठक रहने लगी और उन्हीं के सत्संग से हिंदी भाषा की तरफ़ रुचि हुई। इसलिये मातामह गोस्वामी कृष्णचैतन्यदेवजी से भाषासाहित्य तथा पिंगल के ग्रंथ पढ़ कर फिर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा राजा शिवप्रसादजी की प्रेरणा से गोस्वामीजी ने हिंदी में पहिले पहिल "प्रणयिनीपरिणय" नाम का एक उपन्यास लिखा।

इन्होंने कविता, संगीत, जीवनचरित, नाटक, रूपक, योग, आदि भिन्न भिन्न विषयों पर कोई सौ पुस्तकें लिखी हैं। पहिले तो आप स्फुट लेख लिख कर हिंदीसमाचारपत्रों की सहायता करते रहे परंतु सन् १८९८ ई० से आप निज की एक उपन्यास मासिक पुस्तक प्रकाशित करने लगे। तब से आपका स्फुट लेख लिखना बंद हुआ और हिंदी-साहित्य के भंडार में आप उपन्यासों की भरमार करने लगे। इन्होंने अब तक कोई ६५ उपन्यास लिखे हैं जो नवयुवकों को बहुत पसंद आते हैं।

इसके पहिले ये समय समय पर कई एक हिंदी-समाचारपत्रों के सहकारी सम्पादक रह चुके हैं। इन्होंने एक उपन्यास, एक चम्पू और तीन काव्य ग्रंथ संस्कृत में भी रचे हैं।

श्रीमती महारानी विक्टोरिया की डायामंड जुबिली के समय इन्होंने उक्त राजराजेश्वरी का जीवनचरित संस्कृत में लिख कर वैष्णव-समाज द्वारा विलायत को भेजा था जिस पर इन्हें होम डिपार्टमेंट से धन्यवाद का परवाना मिला था। इस समय कई कारणों से आप कुछ दिनों से काशी छोड़ कर मथुरा में रहने लगे हैं।
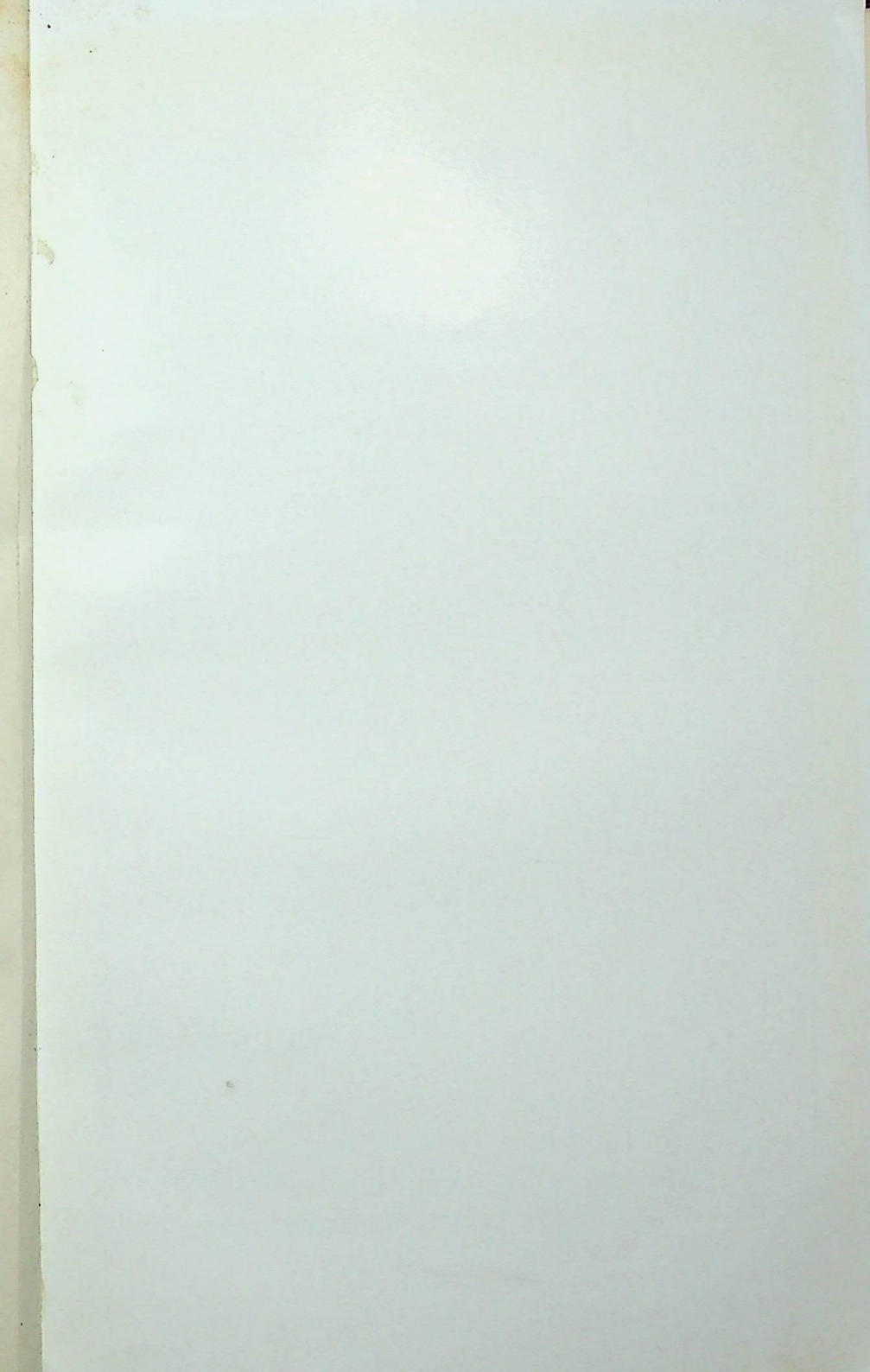
ठाकुर गदाधरसिंह ।

(३८) ठाकुर गदाधरसिंह ।

ठाकुर गदाधरसिंह का संबंध चंदेरी कन्नौज राजवंश
से है। ये चंदेल क्षत्रिय हैं। जब मुग़लों ने आगरे
को राजधानी बनाया तब इनके पूर्व पुरुष क़न्नौज
छोड़ कर शिवराजपुर आ बसे, शिवराजपुर से
यथा समय तीन राजकुमार गंगागंज, सचेंड़ी और
वेनौर आ बसे । सचेंड़ी कानपुर से १३ मील
कालपी की सड़क पर है। यहाँ पर उन लोगों ने एक क़िला बनवाया
जिसके खँडहर अब तक वर्तमान हैं। सचेंड़ी शतचंडी का अपभ्रंश है।
इनके पूर्व पुरुषों ने यहाँ सौ बेर चंडी की आराधना की थी इसी से
यह नाम पड़ा। इनके पूर्व पुरुषों का पेशा सिपाहगरी था। ये लोग
पहिले सवारी मनसबदार थे। अब अँगरेज़ी सैनिक सेवा में ठाकुर
साहब तीसरी पीढ़ी में हैं। इनके पिता का नाम ठाकुर दरियावसिंह
सर्दार बहादुर था। ये बंगाल की पाँचवीं नेटिव इंफैंट्री में सूबेदार थे।
सन् १८३४ ईसवी में ये सेना में भरती हुए और १८७८ में पेंशन ली।
इस ४४ वर्ष की सेवा में इन्होंने काबुल, क़ंधार, मुदकी, ग़ज़नी,
फ़ीरोज़शहर, सुबराँव, सौताल आदि लड़ाइयों में काम किया। सन्
५७ के बलवे के समय ये घर पर छुट्टी लेकर आए हुए थे। अपनी
सर्कार पर आपदा को देख कर घर न रह सके। चट अपनी पल्टन
को लौट गए। इस समय इनको बाग़ी होने के अनेक प्रलोभन दिए
गए, पर ये अपने स्वामिव्रत पर दृढ़ रहे। सन् १८६९ ईसवी में इनकी
पल्टन बनारस में थी। वहीं उस वर्ष के अक्टूबर मास में ठाकुर
गदाधरसिंह का जन्म हुआ। यद्यपि इनके पिता वैष्णव और

कृष्णोपासक थे परंतु उस समय स्वामी दयानंद सरस्वती की पुस्तकें इनके हाथों लग गई थीं और वे उन्हें बड़े अनुराग से पढ़ते थे। इसका प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर बहुत पड़ा। इनकी माता भी लिखी पढ़ी थीं। बाल्यावस्था में शिक्षा घर ही पर माता तथा एक मास्टर द्वारा हुई। इन मास्टर साहब को तुलसीकृत रामायण पढ़ने का बड़ा अनुराग था। बालक गदाधरसिंह भी दो घंटे इनके साथ रामायण पढ़ते। पिता की इच्छा थी कि हमारा पुत्र सिपाही हो। अतएव १७ वर्ष की अवस्था में एँट्रेंस तक पढ़ कर ठाकुर गदाधरसिंह अपने पिता की पल्टन में भरती हो गए। सेवा के पहिले वर्ष (१८८८ ई०) में ये ब्रह्मा की लड़ाई पर गए। यहाँ इन्होंने सेनासंबंधी सब प्रकार का काम किया। यहाँ से लौटने पर ये अपनी सेना के दफ़्र में काम करने लगे। सन् १८९४ ईसवी में जब बंगाल की पल्टनों में जातनामा हुआ तब ये सोलहवीं राजपूत पल्टन में बदल गए और वहाँ स्कूलमास्टरी का काम करने लगे। सन् १८९६ ईसवी में ये सातवीं राजपूत पल्टन में बदले गए।

सन् १९००—०१ में अपनी पल्टन के साथ चीन की लड़ाई पर गए जिसका मनोहर वर्णन इन्होंने अपनी "चीन में तेरह मास" नाम की पुस्तक में किया है। फिर महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के समय इन्हें इँगलैंड जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस यात्रा का वर्णन इन्होंने "हमारी एडवर्ड तिलकयात्रा" नाम की पुस्तक में किया है। सेनाविभाग में २० वर्ष सेवा करके इन्होंने अनएटाच्डलिस्ट में तबदीली कराली और अब संयुक्त प्रदेश के डाक विभाग में काम करते हैं। सेना में इनका पद सूबेदार का था।

स्वामी दयानंद सरस्वती के ग्रंथों को इन्होंने ख़ूब पढ़ा है और उनके अनुयायी हैं। इनकी दो बहिनें हैं वे भी पढ़ी लिखी

हैं। बड़ी बहिन ने तो अनेक वर्षों तक "बनिताहितैषी" नाम का मासिक पत्र निकाला था।

ठाकुर गदाधरसिंह का तीसरा ग्रंथ रूस जापान युद्ध पर है जो दो भागों में छपा है। इनके ग्रंथों में एक विशेषता है। वे बड़े ही मनोरंजक और उत्साह-वर्द्धक हैं और जगह जगह पर मीठी चुटकियाँ लेना तो मानो इन्हीं के हिस्से में है।

आपका स्वभाव बड़ा ही मिलनसार और नम्र है और देश-सेवा का रंग तो मानो नस नस में रँगा हुआ है।

---

(३६) पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र ।

मुरादाबादनिवासी पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म पौष शुक्ल ११ संवत् १९२६ (सन् १८६९ ईसवी) में हुआ था। इनके पिता का नाम सुखनंदन मिश्र था।

पंडित बलदेवप्रसाद को आरंभ में देवनागरी की शिक्षा दी गई थी। हिंदी पढ़ कर इन्होंने अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन आरंभ किया और उसे समाप्त करके इन्होंने फ़ारसी और संस्कृत का अभ्यास किया। इसके पश्चात् इन्होंने बँगला, महाराष्ट्री और गुजराती आदि देशभाषाओं का अभ्यास किया और थोड़े ही दिनों में आपने उन में अच्छी योग्यता प्राप्त की। आप जिन जिन भाषाओं को जानते थे उनसे हिंदी भाषा में अनुवाद भी अच्छा करते थे और उन्हें बोलते भी सरलतापूर्वक थे। किंवदंती है कि आपने कनाड़ी भाषा का भी किंचित् अभ्यास किया था।

पंडित बलदेवप्रसाद अख़बार पढ़ने के बड़े शौक़ीन थे। आप जिन जिन भाषाओं को जानते थे उन सब के दो चार अख़बार मँगाते थे। इसीसे इन्होंने १८—२० वर्ष की अवस्था में अख़बार-सम्पादन करने की योग्यता प्राप्त करली थी। इन्होंने साहित्यसरोज, सत्यसिंधु, भारतवासी, भारतभानु और सोलजर पत्रिका आदि कई अख़बारों का सम्पादन किया और उन्हें बड़ी योग्यता से चलाया। आप तंत्रविद्या के बड़े प्रेमी थे। इसलिये आपने तंत्र-शास्त्र के उद्धार करने की इच्छा से तंत्र-प्रभाकर नाम का एक प्रेस खोला था और उससे तंत्रसंबंधी कई एक ग्रंथ भी छाप कर

पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र ।

प्रकाशित किए थे। पर फिर न जाने क्यों आपने वह प्रेस भी बंद कर दिया और तंत्र-शास्त्र का उद्धार करने से भी हाथ खींच लिया।

पंडित बलदेवप्रसादजी को मिस्मेरिज़्म विद्या से बड़ा प्रेम था और मालूम होता है आप उसमें अभ्यस्त भी थे। पहिले पहिल आपने एक मित्र के अनुरोध से जागती ज्योति नामक मिस्मेरिज़्म की पहिली पुस्तक रची। इसके बाद आपको पुस्तक-प्रणयन का चस्का पड़ गया और आप एक के बाद एक ग्रंथ लिखते गए। इन्होंने सब मिला कर कोई २५ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ महाराष्ट्री, बँगला और गुजराती का अनुवाद हैं, कुछ संस्कृत का अनुवाद हैं और कुछ स्वरचित हैं। आपकी लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें व्यंकटेश्वर और भारतवासी समाचार-पत्रों के उपहार में वितरण हुई हैं। आपने टाड राजस्थान का भी भाषानुवाद किया था जिसका एक खंड व्यंकटेश्वर प्रेस में छप चुका है और दूसरा छप रहा है।

पंडित बलदेवप्रसाद इतनी जल्दी हिंदी लिखते थे कि कभी कभी शिकस्त: उर्दू लिखने वालों को भी इन्होंने हरा दिया। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी इसीसे इन्होंने थोड़ी सी अवस्था में बहुत कुछ लिख पढ़ लिया था। परिश्रमी तो ये इतने थे कि सबेरे से लेकर संध्या तक काम करते रहने पर फिर भी चित्त न भरता तो रात्रि के दो बजे तक लिखा पढ़ा करते थे। यद्यपि यह समय ऐसा नहीं है कि कोई केवल लेखक होकर जीविका निर्वाह कर सके परंतु आप अपनी लेखनी द्वारा ही हज़ारों रुपये कमाते थे। आपने निज व्यय से जो पुस्तकें इकट्ठी की थीं उनका एक पुस्तकालय भी स्थापित किया था। वह पुस्तकालय इस समय आपके भाई पंडित ज्वाला-प्रसादजी की रक्षा में है।

पंडित बलदेवप्रसाद बड़े दयालु और मिलनसार पुरुष थे। आप छोटे छोटे बालकों से बड़ा स्नेह रखते और घंटों उनके साथ खेलते थे। आपका पंडित दीनदयालु शर्म्मा और बाबू बालमुकुंद गुप्त से घनिष्ठ स्नेह था और सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजी आपको बहुत मानते थे। खेद है कि आप ३६ वर्ष की अवस्था में इस संसार से चल बसे। आपका देहांत संवत् १९६१ के श्रावण शुक्ल ७ सोमवार को हुआ था।

पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम. ए.

(४०) पंडित श्यामविहारी मिश्र, एम० ए० ।

पंडित श्यामविहारी मिश्र का जन्म एक बड़े ही प्राचीन और प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में हुआ है। बहुत दिन हुए विश्वामित्र, कात्यायन और कीलक ऋषियों के वंश में एक बड़े विद्वान् अनंतराम हुए जिन्हें काशी के पंडितों ने "मिश्र" की उपाधि दी। तभी से इस वंश के लोग इस उपाधि से भूषित हैं। इनके पीछे मिश्र चिंतामणि हुए जिन्होंने संस्कृत में कई ग्रंथ बनाए। एक समय एक राजा ने इन्हें एक लाख रुपया देकर सगर्व यह कहा—"आपको मुझ सा दानी न मिला होगा।" यह वाक्य मिश्रजी को असह्य हुआ। उन्होंने अपने पास से एक लाख रुपया और मिला कर दोनों लाख रुपए राजा पर से निछावर करके बाँट दिए और यह कह कर वहाँ से चल दिए—"आपने मुझ सा त्यागी भी न देखा होगा।" इसी दिन से इस वंश में दान न लेने की मर्यादा स्थापित होगई। क्रमशः इस वंश की देवमणि, सिद्धि और हीरामणि ये तीन शाखाएँ हुईं, जिनमें से पंडित श्यामविहारी मिश्र प्रथम शाखा के अंतर्गत हैं। इस शाखा के लोगों ने क्रमशः बहुत कुछ उन्नति की और बड़े बड़े मकान बनवाए तथा बादशाही सेवा में वे चकलेदार के उच्चपद तक पहुँचे। हमारे चरितनायक के पूज्य पिता मिश्र बालदत्तजी बड़े ही चतुर और बुद्धिमान् मनुष्य थे। भाषा-कविता से उन्हें बड़ा शौक़ था। वे कवि भी अच्छे थे। पिता की ऐसी भाषा-रुचि के साथ ही साथ माता का भी विदुषी होना मानो सोने में सुगन्ध का दुर्लभ संयोग हो गया। इन्हें हिंदी के बहुत से कवित्त कंठस्थ थे जिनका वे नित्य पाठ करतीं और जिन्हें उनके अबोध बालक

बड़े चाव से सुनते। ठीक कहा है कि बालपने के संस्कारों का आगे चल कर बड़ा प्रभाव पड़ता है। माता पिता दोनों के हिंदी-अनुराग का समुचित प्रभाव बालकों पर पड़ा। मिश्र बालदत्त के चार पुत्र और दो कन्याएँ हुईं। सबसे बड़े पंडित शिवविहारीलाल हैं जिन्होंने गत २२ वर्षों से लखनऊ में वकालत करके बहुत कुछ यश और धन कमाया है। दूसरे पंडित गणेशविहारी मिश्र हैं जो घर की ज़मींदारी आदि कार्यों की देख भाल करते हैं और इससे जो समय बचता है उसे भाषा-ग्रंथों के पठन-पाठन में बिताते हैं। तीसरे हमारे चरित-नायक पंडित श्यामविहारी मिश्र हैं और चौथे तथा सबसे छोटे भाई पंडित शुकदेवविहारी मिश्र हैं।

पंडित श्यामविहारी मिश्र का जन्म भाद्र कृष्ण ४ संवत् १९३० (१२ अगस्त १८७३) को इटौंजे (लखनऊ के निकट) में हुआ। लड़कपन में ये बड़े उपद्रवी और चंचल थे। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें पढ़ना आरम्भ कराया गया। पहिले उर्दू की शिक्षा दी गई। हिंदी इन्हें कभी नियत रूप से नहीं पढ़ाई गई। अपने साथियों की देखा देखी तथा वंशपद्धति के अनुसार हिंदी इन्होंने आप ही सीख ली। इस ओर इनकी विशेष रुचि होने से धीरे धीरे इन्होंने इसमें अच्छी दक्षता प्राप्त कर ली और अब हिंदी के अच्छे कवि तथा लेखक गिने जाते हैं। १५-१६ वर्ष की अवस्था में ही इन्हें हिंदी-कविता करने की रुचि हो गई थी। बारह वर्ष की अवस्था होने पर इन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। पहिले तो कुछ दिनों तक पढ़ने में अच्छा जी इन्होंने लगाया पर फिर चौसर की लत पड़ जाने से इसमें कुछ बाधा पड़ने लगी। यह व्यसन बहुत दिनों तक न रहा। जब इससे पढ़ने में बाधा पड़ने लगी और सहपाठी आगे बढ़ निकले तब इन्हें स्वयं ग्लानि आई, जिसका परिणाम यह हुआ कि आगे की

पढ़ाई निर्विघ्न चली। सन् १८९१ ई० में इन्होंने एँट्रेंस की परीक्षा पास की। फिर क्रमशः सन् १८९३ ई० में एफ़० ए० और सन् १८९५ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा में अवध में इनका नंबर पहिला रहा और अँगरेज़ी में "आनर्स" प्राप्त हुए। यह प्रतिष्ठा इसके पहिले कैनिंग कालेज के किसी विद्यार्थी को नहीं प्राप्त हुई थी। इसके लिये इन्हें दो स्वर्णपदक मिले और कालेज के हाल में स्वर्णाक्षरों में इन का नाम लिखा गया जो अब तक वर्तमान है। सन् १८९६ ई० में इन्होंने अँगरेज़ी में एम० ए० परीक्षा पास की। इस बेर अपने कालेज में इनका नंबर पहिला और युनिवर्सिटी में चौथा रहा। इनके शिक्षक इनसे सदा प्रसन्न रहते थे और इनकी कुशाग्र बुद्धि पर मोहित थे। कई अध्यापकों ने बड़े प्रशंसासूचक सर्टिफ़िकेट इन्हें दिए हैं।

यों विद्याध्ययन समाप्त करके सन् १८९७ ई० में ये डिप्टी-कलक्टर नियत हुए और सन् १९०६ ई० में डिप्टी सुपरिंटेंडेंट आफ़ पुलिस। इस पद पर रहकर ये कई बेर सुपरिंटेंडेंट पुलिस का काम योग्यता और सफलतापूर्वक कर चुके हैं। आजकल आप छत्रपुर में दीवान पद पर सुशोभित हैं। सर्कारी सेवा में इनकी बहुत कुछ प्रतिष्ठा और ख्याति है। अभी थोड़े ही दिन हुए कि इटावे में कुछ दुष्टों ने एक षड्यंत्र में सानकर इन्हें सर्कार का विरोधी सिद्ध करना चाहा था, पर ईश्वर की इच्छा से सारा भंडा फूट गया और इनकी निर्दोषता सिद्ध हो गई।

मिश्रजी का विवाह ११ वर्ष की अवस्था में हुआ। सन् १८९३ ई० में इन्हें पहिली संतति एक कन्या हुई पर जन्म के दूसरे दिन उसका शरीर-पात हो गया। इसके अनंतर इन्हें कई कन्याएं और पुत्र हुए जिनमें से जेष्ठ पुत्र जिसका जन्म सन् १८९९ में हुआ था, सन् १९०७ ई० में परलोकगामी हुआ। यह लड़का बड़ा होनहार

था और इसकी मृत्यु से मिश्र जी को बड़ा दुःख हुआ। दूसरे पुत्र आदित्यप्रकाश का जन्म मार्च सन् १९०४ ई० में हुआ। यह भी होनहार प्रतीत होता है।

यह लिखा जा चुका है कि पंडित शुकदेवविहारी मिश्र इनके छोटे भाई हैं। इनका जन्म सन् १८७९ ई० में हुआ, विद्याध्ययन में सम्यक् प्रशंसा के साथ अनेक परीक्षाएं पास कर के ये इस समय हरदोई में मुंसिफ़ हैं। दोनों भाइयों में इतना अधिक सौहार्द है कि इन्हें एक प्राण दो शरीर कहना अनुचित न होगा। वे प्रायः मिलकर ग्रंथ या लेखादि लिखा करते हैं। आज तक भाषा में जितने ग्रंथ या लेख इनके छपे हैं सब पर दोनों भाइयों के नामांकित हैं। इसका कारण यह है कि दोनों भाई मिलकर लिखते हैं और सब चीज़ों में दोनों की कृति वर्तमान रहती है। इस अवस्था में एक की हिंदी-रचना के संबंध में जो कुछ लिखा जाय उसे दोनों के संबंध में समझना चाहिए। इस युगल जोड़ी ने हिंदी में १३ ग्रन्थ लिखे या संपादित किए हैं। इनमें सब से उपयोगी "संक्षिप्त इतिहास-माला" नाम की एक ग्रंथावली है जो २०, २२ भागों में समाप्त होगी। इसके कई भाग छप चुके हैं। दूसरा उपयोगी ग्रंथ हिंदी-साहित्य का इतिहास है। यह बहुत बड़ा ग्रंथ होगा। जिस समय यह प्रकाशित होगा हिंदो-पठित समाज को इनकी विद्या, बुद्धि, गवेषणा और समालोचक शक्ति का पूरा अनुभव हो जायगा। तीसरा उपयोगी ग्रंथ भूषण-ग्रंथावली है जो नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला में छपा है। चौथा ग्रंथ लवकुश-चरित्र है जिसे छपे कई वर्ष हो चुके। हिंदी-नवरत्न नाम का ग्रंथ इनका बहुत ही अच्छा हुआ है, छोटे ग्रंथों में पुत्रशोक पर जो कविता इन्होंने की है वह अत्यंत सुंदर है।

इन दोनों भाइयों ने हिंदी के प्रायः सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध मासिक

पत्रों के लिये लेख लिखे हैं। इनमें से कई तो विशेष आंदोलन के कारण हुए। सर्कारी काम से जो समय बचता है उसे वे लोग साहित्य-सेवाही में लगाते हैं। पंडित श्यामविहारी मिश्र ने अँगरेज़ी में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। काशीनागरीप्रचारिणी सभा के दोनों भाई पुराने सभासद् हैं और उसके कार्यों में सदा उत्साह से सहायता करते हैं। जब से इस सभा की प्रबंधकारिणी सभा में प्रांतिक प्रतिनिधियों का चुनाव होने लगा है पंडित श्यामविहारी मिश्र तभी से संयुक्त प्रांत की ओर से उसके सभासद् हैं और उसके कार्यों के करने में सदा दत्तचित्त रहते हैं। इस समय आप उसके सभापति भी हैं।